जैन भारती

वर्ष 48 • अंक 1 • जनवरी, 2000

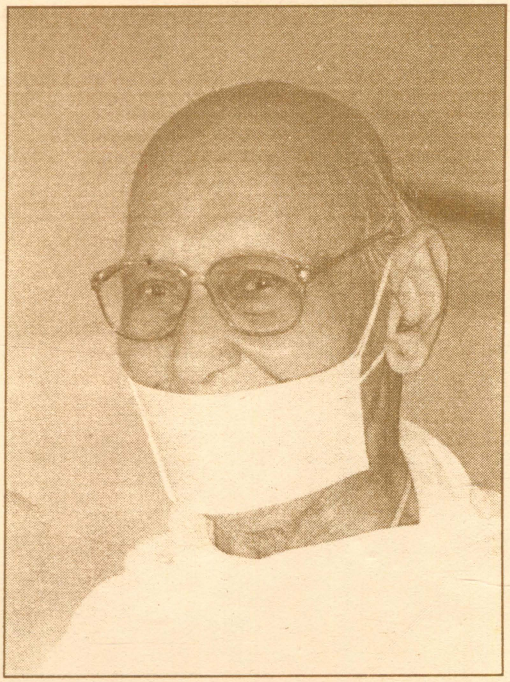

'कर्म में तेरा अधिकार है, फल में नहीं'
इसे मनुष्य गाता रहा है, किंतु कम उसे निभाता रहा है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

जनवरी, 2000 वर्ष 48 अंक 1 रु. 15.00

प्रसंग

5
शुभू पटवा
बौद्धिक बेबसी

विमर्श

9
यशदेव शल्य
धर्म और विज्ञान

13
निर्मल वर्मा
मानसिक गुलामी का शब्दकोश

16
डॉ. भगवान दास
मानव-धर्म

अनुभूति

25
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
ब्रह्मचर्य और शरीर रचना

29
आचार्यश्री तुलसी
जैन-योग

34
युवाचार्यश्री महाश्रमण
नमोस्तु तस्मै तपसेऽद्‌भुताय

37
थाती
मुनि विनयकुमार 'आलोक'
महावीर का प्रखर प्रवक्ता कुंडकौलिक

41
कहानी
जैनेन्द्र कुमार
इनाम

44
कविता
प्रयाग शुक्ल की कविताएं

शीलन

47
श्रीमन्नारायण
परस्पर भावयन्तः

50
साध्वी राजीमती
बीमारियां : समाधान प्राणायाम

52
बाल कथा
यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र'
अधूरा मंदिर

•
आवरण
अडिग

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

सच पूछा जाए तो जितने व्यक्ति हैं, उतने ही धर्म हैं।

मैं इस धारणा से सहमत नहीं हूं कि संसार में एक ही धर्म हो सकता है अथवा होगा। इसलिए मैं उन में समानता के सूत्र को पकड़ने और परस्पर सहिष्णुता का विकास करने के लिए प्रयासरत हूं।

सभी धर्मों की आत्मा एक है, पर उन के रूप अनेक हैं। ये रूप अनंतकाल तक रहेंगे। बुद्धिमान लोग बाहरी सतह की चिंता न करते हुए विविध रूपों के भीतर एक ही आत्मा को निवास करता पाएंगे।

मैं समझता हूं कि विश्व के सभी महान धर्म लगभग सच्चे हैं। 'लगभग' इसीलिए कहता हूं कि मेरा विश्वास है कि मानव क्योंकि अपूर्ण है इसलिए वह जिस चीज को भी हाथ लगाएगा, वह अपूर्ण हो जाएगी। पूर्णता केवल ईश्वर का गुण है, और यह अवर्णनीय है, अननुवाद्य है। हम सब के लिए उस पूर्णता की कामना करना आवश्यक है, लेकिन जब उस स्थिति की प्राप्ति होती है तो वह अवर्णनीय और अपरिभाषेय हो जाती है। इसलिए मैं पूरी विनम्रता के साथ यह स्वीकार करता हूं कि वेद, कुरान और बाइबिल भी ईश्वर की अपूर्ण वाणियां हैं, और अनेक मनोवेगों के शिकार हम अपूर्ण मानवों के लिए इन ईश्वरीय वाणियों को भी पूरी तरह समझना असंभव है।

—महात्मा गांधी

'महात्मा गांधी के विचार' से

जहां अशुभ की निवृत्ति और शुभ की प्रवृत्ति हो, उसे धार्मिक प्रवृत्ति कहा जाता है। मोक्ष का अर्थ है—दुःख की निवृत्ति। किंतु दुःख की निवृत्ति ही मोक्ष नहीं है। कोरा अभाव, शून्य या तुच्छ होता है। दुःख की निवृत्ति का अर्थ है—अनंत सुख की प्राप्ति। मोक्ष में पौद्गलिक सुख-दुःख का निवर्तन होता है। इसीलिए कहा जाता है—मोक्ष का अर्थ है दुःख की निवृत्ति। मोक्ष में आत्मिक सुख का सतत उदय रहता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि मोक्ष का अर्थ है—सुख की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष हैं। जिस पुरुषार्थ का प्रेरक सांसारिक उत्साह होता है और जहां संयम की निवृत्ति होती है, उसे हम प्रवृत्ति कहते हैं और जिस पुरुषार्थ का प्रेरक धार्मिक उत्साह होता है और जहां असंयम की प्रवृत्ति नहीं होती, उसे हम निवृत्ति कहते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रयोग सापेक्ष दृष्टि से किया जाता है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

धर्म को जाति या कौम में मत बांटिए। जातियां सामाजिक संबंधों के आधार पर अवस्थित हैं। धर्म जीवन परिमार्जन या आत्मशोधन की प्रक्रिया है। वहां हिंदू और मुसलमान का भेद नहीं है। धर्म वह शाश्वत तत्त्व है, जिसका अनुगमन करने का प्राणीमात्र को अधिकार है। सांप्रदायिक संकीर्णता की उसमें गुंजाइश नहीं। जहां भेद-दृष्टि को प्रमुखता दी जाती है वहां सांप्रदायिक झगड़े और संघर्ष पैदा होते हैं। चूंकि विभिन्न संप्रदायों में भेद के बजाय अभेद—समानता के तत्त्व अधिक हैं, अतः उनको मुख्यता देते हुए धर्म के जीवनशुद्धि-मूलक आदर्शों पर चलना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। ऐसा होने से आपसी संघर्ष, विद्वेष और झगड़े खड़े ही नहीं होंगे।

—आचार्यश्री तुलसी

जैन भारती
जनवरी, 2000

प्रसंग

बौद्धिक बेबसी

हिरोशिमा-नागासाकी पर अणु बम विस्फोट से हुए प्रलय और लाखों बेगुनाहों की आर्त-चीत्कारों से आहत ओपन हाइमर ने महसूस किया कि उसके हाथ इस समय निरीह निरपराधों के खून से सने हैं। सन् 1945 के 6 व 9 अगस्त को जापान में जो कुछ हुआ उसकी कालिख यह सदी कभी धो नहीं सकेगी और न इसके जनक को मुक्ति मिलेगी, जिसने तब रो-रो कर कहा था कि 'आज मेरे हाथों पर मुझे खून लगा दिखता है।' अणु बम के इस जनक ओपन हाइमर के साथ एक और वैज्ञानिक लियो जीलॉर्ड भी उन लोगों में थे जो अपने अनुसंधान से उपजी वीभत्सता से आहत थे। इस वैज्ञानिक ने अपने अपराध बोध के बोझ को कम करने के लिए अपने जीवन की दिशा ही बदल ली और जापान की घटना के बाद उसने अपनी वैज्ञानिक गतिविधियां बंद कर शेष जीवन को विश्व-कल्याण में खपा दिया।

हमारी बौद्धिक लाचारी को बताने के लिए यह एक उदाहरण पर्याप्त है। जिस सदी की तमाम उपलब्धियों पर इस समय समूचा विश्व इतरा रहा है, यह बात इसी सदी की है जिसने ज्ञान की सत्ता को राज सत्ता और धन सत्ता के आगे भोथरा बना डाला। ज्ञान और विज्ञान सदा सत्ता के श्रेयस् रूप माने जाते रहे हैं, पर यह इसी सदी का प्रताप है कि वह बेबस है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के साथ यह जो स्थिति है, उसका बुनियादी कारण उसके अनैतिक होते जाने में है। यह विडंबना ही है कि विज्ञान के प्रति सर्वोच्च निष्ठा रखने वाले प्रो. सी. एफ. पावेल (ब्रिटेन) और प्रो. जुलियट क्यूरी (फ्रांस) जैसे नोबल पुरस्कार विजेताओं ने आणविक परीक्षणों के दुष्प्रभावों पर जो कुछ कहा, उस पर न तब (छठे दशक में) ध्यान दिया गया और न उसके बाद। ठीक इसके विरुद्ध सरकारों की ओर से नियुक्त विशेषज्ञों ने इसके खतरों को सदा कम बताया और आम जन को छला। टेलीविजन जैसे सामान्य घरेलू उपकरण से भी कोई खतरा हो सकता है, हमारे विशेषज्ञों ने इस पर भी कोई बात गंभीरतापूर्वक नहीं बताई। प्रजनन ग्रंथियों और शुक्राणुओं पर विकिरण का जो कुप्रभाव पड़ता है, उसके बारे में यह माना गया है कि चाहे कितना ही अल्प प्रभाव क्यों न हो, वह प्रजनन कोषों को विकृत करने के लिए पर्याप्त है और इसी कड़ी में यह बताया गया कि हर रोज दो घंटे टेलीविजन देखने से भी विकिरण की इतनी मात्रा तो पहुंच ही चुकी होती है।

विज्ञान की इन कथित उपलब्धियों के ऐसे दुष्प्रभावों से वह वर्ग भी भिज्ञ नहीं है जो जागरूक है, शिक्षित है। तब अशिक्षित और गाफिल वर्ग की तो बात ही क्या की जाए, जो संख्या में सर्वाधिक हैं और वही ऐसे दुष्प्रभावों का सर्वाधिक रूप से शिकार होता है। यहीं आकर प्रौद्योगिकी और विज्ञान और इसके अनुसंधानकर्ताओं पर सवालिया निशान लगता है कि आखिर उनकी निष्पत्तियां किसकी बेहतरी के लिए है।

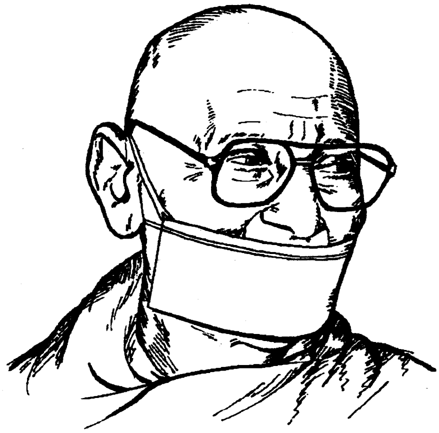

कल्याणकारी भविष्य

प्रत्येक आदमी कल्पना करता है—मेरा भविष्य उज्ज्वल बने। कोई भी धुंधले भविष्य को नहीं चाहता। उज्ज्वल भविष्य का निर्माण होता है वर्तमान में। अतीत बीत चुका है। उसके लिए हमारे हाथ में कोई शक्ति नहीं है। उसका शोधन हो सकता है, किंतु निर्माण में उसका योग कैसे हो सकता है? नया निर्माण कोई करता है तो वह वर्तमान में ही होता है। वर्तमान में ही अतीत का शोधन होता है, वर्तमान में ही भविष्य का निर्माण होता है। वर्तमान को दोहरा दायित्व निभाना है। अतीत में जो भी किया, उसका अगर परिष्कार करना है तो केवल वर्तमान कर सकता है। कोई नया निर्माण करना है तो वह वर्तमान कर सकता है। इसीलिए वर्तमान को बहुत मूल्य दिया गया। भविष्य उज्ज्वल और पवित्र बने, इस विषय पर सोचा गया। ऐसा क्या हो सकता है, जिससे भविष्य अच्छा और सुखद बने। उसमें कठिनाइयां, संकट, विघ्न और बाधाएं न आएं। प्रत्येक व्यक्ति ऐसा भविष्य चाहता है, जिसमें समस्याएं न हों।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

इसी संदर्भ में सी. राजगोपालाचारी ने एक प्रसंग पर 18 मई, 1957 को 'स्वराज' में सही लिखा कि 'वर्तमान युग का बुद्धिवादी वर्ग जिस प्रकार नैतिकता के मूल्यांकन की समझदारी को खो बैठा है और यंत्र-विद्या का दास एवं शीतयुद्ध का शिकार बन चुका है, वह वस्तुतः शोचनीय है।'

बीती सदी के दौर में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के ऐसे अनैतिक आचरण के कई उद्धरण सामने रखे जा सकते हैं। आणविक परीक्षणों को लेकर तो जैसे वैज्ञानिकों के दो गुट ही बन गए थे। एक ओर वे नोबल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक थे, जो इन परीक्षणों को मानवता के लिए भयानक विनाशकारी बता रहे थे तो दूसरी ओर कुछ वैज्ञानिकों पर यह दबाव डाला जा रहा था कि वे कहें कि जो कुछ आणविक परीक्षणों के विरुद्ध कहा जा रहा है—वह बढ़ा-चढ़ा कर है और संदेहास्पद है।

यह सही है कि सत्य के अन्वेषण पर किसी भी तरह का प्रतिबंध नहीं लग सकता है और न ऐसा किया जाना वांछनीय ही हो सकता है, पर विज्ञान को सत्य के अन्वेषण का जरिया यदि हम मानते हैं तो उस पर राज्य सत्ता का कुत्सित नियंत्रण कभी नहीं होना चाहिए। हम देखते हैं कि वर्तमान समय में न केवल राज्य का नियंत्रण ही है, राजनेता के क्षुद्र स्वार्थों के सामने इसके घुटने भी टिके हुए हैं। यही अनैतिक स्थिति है जो एक बुराई के रूप में समाज को ग्रस रही है।

केवल राज सत्ता ही नहीं, आज तो धन सत्ता भी ज्ञान-विज्ञान की संस्थाओं पर हावी है। विश्व के अनेक विश्वविद्यालय धन और संसाधनों के अभाव में केवल सरकारों की तरफ ही नहीं, औद्योगिक प्रतिष्ठानों की ओर भी मोहताज हैं। एक वैज्ञानिक को अपने अनुसंधान के लिए जिस प्रयोगशाला की जरूरत होती है, उसके लिए संसाधन कहां से आएं? तब यदि कोई औद्योगिक प्रतिष्ठान या शासन उसे वह सब कुछ मुहैया कराता है तो निश्चय ही बदले में वह कुछ चाहता भी है और यहीं ज्ञान-विज्ञान कसौटी पर चढ़ा जाता है कि उसकी निष्पत्तियां किसके लिए हों?

ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में जैसे अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र आदि के अध्ययनों को लेकर भी यही बात कही जा सकती है।

हम गरीबी का सवाल ही लें। इस सवाल पर अर्थशास्त्रियों के जो दृष्टिकोण सामने आते रहे हैं वे कितने वास्तविक हैं और कितने बनावटी—सामान्यजन के लिए समझना कठिन हो जाएगा। आर्थिक उदारीकरण का सवाल आज सर्वाधिक चर्चा का मुद्दा है। उदारीकरण या आर्थिक सुधार किसके लिए? सबके लिए या वर्गविशेष के लिए। भारत का उदाहरण अपने सामने है। उदारीकरण और आर्थिक सुधारों के बावजूद गरीबी की रेखा के नीचे जीवन बसर करने वालों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है। ऐसा क्यों? अर्थशास्त्री मानते हैं कि इसका कारण क्रय क्षमता में कमी होना है। तब पूछा जाना चाहिए कि आर्थिक सुधारों के फिर क्या मानी रहे? एक तरफ भारतीय खाद्य निगम के भंडारों में खाद्यान्नों का भंडारण बढ़ा है और दूसरी ओर जनसंख्या (यानी खाने वाले) भी बढ़ी है। नोबल पुरस्कार प्राप्त अमर्त्य सेन अकाल के कारणों का विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि खाद्यान्नों की कमी के कारण अकाल नहीं, अकाल का कारण खाद्यन्नों को खरीदने की क्षमता का न रह जाना है। जैसा कि इस समय भारत में है। खाद्यान्न भंडार भरे हैं, पर लोग भूखे हैं। फिर भी आर्थिक सुधारों व उदारीकरण के औचित्य का परचम फहराने वाले अर्थशास्त्री अपना काम कर रहे हैं। तो क्या यह ज्ञान का मायाजाल है?

इस मायाजाल से ज्ञान को मुक्त कराने का एक ही अस्त्र हो सकता है कि हमारे हर एक मूल्यांकन का आधार नैतिकता हो। वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ता हो या समाजशास्त्रीय-अर्थशास्त्रीय अध्ययनकर्ता—उनके सामने जब तक नैतिकता एक **लक्ष्य** नहीं होगा तब तक उनकी निष्पत्तियां कभी भी सर्व सापेक्ष और जमीनी सचाई से जुड़ी नहीं होंगी।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी का कहना है कि नैतिकता की रक्षा करते हुए जो कुछ अर्जित होगा, वही तृप्ति और सुखानुभूति देने योग्य होगा। नैतिकता के सामूहिक विकास के लिए उनका मानना है कि उसकी विधियों पर अनुसंधान होना चाहिए और उसकी उपलब्धियों का जन-साधारण में प्रचार किया जाए और प्रशिक्षण दिया जाए। नैतिकता के बाधक और साधक तत्त्वों का भी वे खुलासा करते हैं और कहते हैं कि राष्ट्रीयता की तुलना में नैतिकता का अधिक सुदृढ़ आधार मानवता है। इस मान्यता का विकास होने पर अनैतिकता की सीमा अपने आप सिमट जाती है।

अनैतिकता के सिमटने में ही ज्ञान की बेबसी का उन्मूलन है। नए युग में प्रवेश करते हुए क्या इस दिशा में कुछ ठोस कदम उठ सकेंगे?

—शुभू पटवा

विमर्श

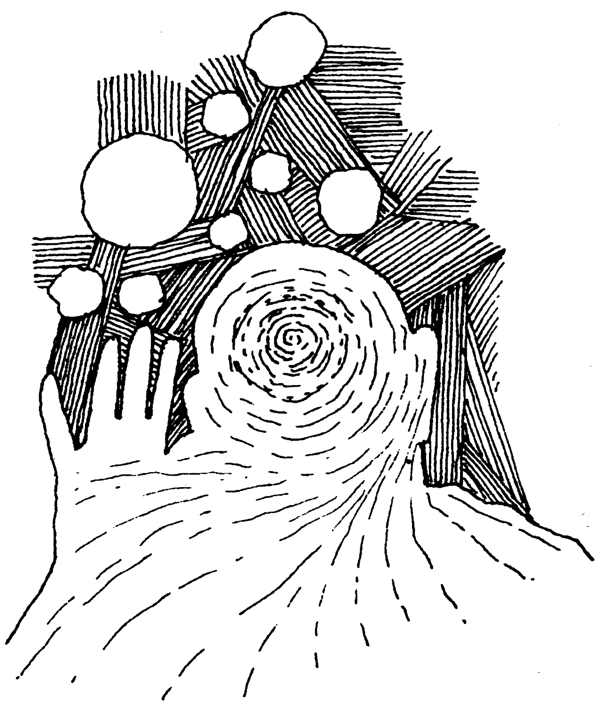

'मानव-जाति की एकता मौलिक है और उस के विभेद आरोपित। मानव-संस्कृति की सार्वभौमिकता भी इसीलिए एक आदर्श-सत्य है। किंतु यह सार्वभौमिकता संस्कृति की एकरसता नहीं है। आदर्श एकता यथार्थगत भेदों के वास्तविक एकीकरण से प्राप्त न होकर, उन भेदों में व्याप्त एक अनंत साम्य के दर्शन से चेतना में व्यक्त होती है। इसी प्रकार ऐतिहासिक संस्कृतियों के विभाजन मानव-संस्कृति की आदर्श एकता से पूर्णतया समंजस हैं। इसीलिए संस्कृतियां जहां एक ओर अपने आदर्शों को सार्वभौम मानती हैं, दूसरी ओर वे अपनी सत्ता को एक विशिष्ट समाज अथवा जाति में निर्धारित करती हैं।...यद्यपि यह निस्संदेह है कि भारतीय संस्कृति में सार्वभौमिकता का भाव अंतर्निहित है, यह उतना ही निर्विवाद है कि भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक परंपरा में उस की अंतर्निहित सार्वभौमिकता अधूरे रूप में ही चरितार्थ हुई है। इसीलिए भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक रूप उस के पूर्ण प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते। किंतु यथार्थ की इस असरूपता से संस्कृति के आदर्श असत्य नहीं हो जाते। वस्तुतः ये कठिनाइयां सभी संस्कृतियों में समान रूप से मिलती हैं।'

—डॉ. गोविन्दचन्द्र पांडे

'भारतीय परंपरा के मूल स्वर' से

परिचर्चा

धर्म और विज्ञान

यशदेव शल्य

धर्म और विज्ञान के समन्वय को लेकर हमारे बौद्धिक वर्ग में हो रही चर्चा में अलग-अलग मत सामने आते रहे हैं। लेकिन सामान्यतः यह समझ पाना जरा कठिन लगता रहा है कि धर्म और विज्ञान में क्या कोई समन्वय या संबंध विकसित हो सकता है? जैन भारती ने इस दिशा में एक पहल की और अपने जुलाई अंक में एम.एन. राय के विचार 'विज्ञान और धर्म' शीर्षक से प्रकाशित किए। हमने तभी इस बहस में भागीदारी के लिए चिंतनशील पाठकों से अनुरोध किया था। हमारे अनुरोध पर श्री यशदेव शल्य ने जैन भारती के पाठकों के लिए जो विचार भेजे—यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

श्री यशदेव शल्य (जून 1928) देश के स्वनामधन्य चिंतक-दार्शनिक हैं। पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् और भारतीय सामाजिक-विज्ञान अनुसंधान परिषद् आदि के वरिष्ठ फैलो रह चुके शल्य जी ने कोई दर्जन भर महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की है। कई पुरस्कारों से सम्मानित श्री यशदेव शल्य इस समय 'दर्शन प्रतिष्ठान' जयपुर व 'उन्मीलन' पत्रिका से जुड़े हैं।

धर्म और विज्ञान मानव-चेतना के प्रवर्तन के अनेक आयामों में से दो आयाम हैं। इनमें से द्वितीय—विज्ञान—को इंद्रियगम्य वस्तु-जगत के व्यवहार का और उसके लौकिक लाभार्थ नियोजन के उपाय-ज्ञान का आयाम कहा जा सकता है और प्रथम—धर्म—को मनुष्य के आत्मस्वरूप और जगत के दिव्य प्रतिष्ठापक तत्त्व के प्रतिमान और उससे सान्निध्य या तादात्म्य-सिद्धि की अभीप्सा का आयाम कहा जा सकता है। अन्य आयाम काव्य, चित्र-कला, पाक-कला, दर्शन, व्यवसाय और शिल्प आदि हैं। इनमें कुछ आयाम परस्पर निकट दिखाई देते हैं और कुछ परस्पर पर्याप्त दूर। जैसे काव्य और चित्र-कला में या काव्य और शिल्प में कुछ निकटता है जो काव्य और पाक-कला में या काव्य और व्यापार में नहीं है। इनमें कभी-कभी कुछ पारस्परिकता भी हो सकती है, जैसे कवि शब्द-चित्र बना सकता है और चित्रकार कवि-कल्पित किसी कथा या भाव का चित्रांकन कर सकता है। इसी प्रकार दर्शन और कला में भी पारस्परिकता हो सकती है, जैसे कवि, मूर्त्तिकार या चित्रकार दार्शनिक निष्कर्षों को अपनी-अपनी विधा में अनूदित करते हैं और दर्शन काव्य आदि के स्वरूप पर विचार करता है। इसी प्रकार विज्ञान और धर्म का भी इनसे या परस्पर संबंध या संबंधाभाव, निकटता या दूरी हो सकती है। इन सब आयामों के अपनी-अपनी प्रामाणिकता के अपने-अपने अंतरंग मानदंड होते हैं, एक आयाम दूसरे आयाम की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का निर्धारण नहीं कर सकता—सिवाय दर्शन के। किंतु दर्शन भी किसी आयाम की अंतरंग प्रामाणिकता पर टिप्पणी या निर्णय नहीं दे सकता, केवल बाह्यतः उसके सत्यासत्य या साधारता-निराधारता आदि के संबंध में विचार कर सकता है। उदाहरणतः कोई धार्मिक व्यक्ति यदि ईश्वर में भक्ति रखता है तो उसकी भक्ति और भक्ति के विषय ईश्वर की प्रामाणिकता उसके अनुभव के बाहर किसी मानदंड से निर्धारित नहीं की जा सकती, किंतु दर्शन बाह्यतः ईश्वर के अस्तित्व या स्वरूप के प्रश्न पर विचार कर सकता है। इसी प्रकार विज्ञान अपने विषय, उद्देश्य और विधि के संबंध में अपनी अंतरंग व्यवस्था में

प्रमाणापेक्षी नहीं होता, उसकी विधि की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता उसके उद्देश्य की सिद्धि-असिद्धि से ही निर्धारित हो सकती है, अन्यत्र कहीं से नहीं। किंतु दर्शन उसके विषय के सत्य और उद्देश्य के मूल्य पर बाह्यतः विचार कर सकता है। जैसे शांकर वेदांत इंद्रियगम्य लोक को उपाधि और ईश्वर को सोपाधिक ब्रह्म कह कर और ह्यूम ऐंद्रिय संवेद-प्रदत्त से बाहर किसी सत् को संदिग्ध कह कर अपने-अपने ढंग से धर्म और विज्ञान दोनों के आधारों पर प्रहार करते हैं। किंतु यदि कोई वैज्ञानिक किसी या सब धार्मिक आस्थाओं पर आक्षेप करता है तो वह अव्यापारेषु व्यापार होगा। इसमें ऐसे अपवाद हो सकते हैं जैसे यदि धार्मिक लोग किसी या सब गणेश की मूर्त्तियों को दूध पीते देखते हैं और वैज्ञानिक पाता है कि मूर्त्तियां वास्तव में दूध नहीं पी रही हैं तो वह कह सकता है कि यह धार्मिक व्यक्ति का भ्रम है, या यदि वे वास्तव में दूध पी रही हैं तो वह यह खोजने का प्रयत्न कर सकता है कि इसके भौतिक कारण क्या हो सकते हैं। किंतु दोनों अवस्थाओं में वह यह नहीं कह सकता कि देवता मूर्त्ति के माध्यम से दूध नहीं पी सकता। इसी प्रकार डार्विन अपनी खोजों के आधार पर विकासवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन कर सकता है और उसके सत्य होने के प्रमाण के रूप में कह सकता है कि इससे प्राणियों की दैहिक रचना को समझने के लिए वैज्ञानिक रूप से एक अधिक युक्तिसंगत व्यवस्था बनती है। किंतु वह ईसाइयों के इस दावे पर टिप्पणी नहीं कर सकता कि ईसा ने अतींद्रिय साक्षात्कार द्वारा मनुष्य की अन्य प्राणियों के साथ ही उत्पत्ति को प्रत्यक्ष किया था। धार्मिकों के उपर्युक्त दोनों प्रकार के दावों की सत्यासत्यता की जांच दर्शन का विषय है। द्रष्टव्य है कि हमारे यहां अतींद्रिय विषयों में श्रुति-प्रमाण और आगम-प्रमाण का सिद्धांत स्वीकार किया जाता रहा है, आज यह स्वीकार नहीं किया जाता। स्वयं ये स्वीकार और अस्वीकार भी दार्शनिक परीक्षा के ही विषय हैं, विज्ञान या धर्म के नहीं। यहां यह उल्लेखनीय है कि डार्विन के प्राणि-विकास का तथ्य वैज्ञानिकों में आज भी मान्य होने पर भी इसके सैद्धांतिक आधार आज डार्विन से पर्याप्त भिन्न हैं और इस निर्णय के लिए विज्ञान के पास कोई युक्ति-विधि नहीं है कि इनमें कौन-सा सिद्धांत ठीक है, क्योंकि इनके पीछे विज्ञान-बाह्य पूर्वग्रह काम करते हैं। इन पूर्वग्रहों की परीक्षा दर्शन के क्षेत्र में आती है।

ऐसा नहीं है कि दार्शनिक परीक्षा सर्वत्र अपेक्षित होती है। जैसा कि हमने ऊपर देखा, वह विभिन्न आयामों की अंतरंग व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। यहां ईश्वर में धार्मिक आस्था को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न पर कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने विचार किया है। भारत में न्याय दर्शन के सिवाय लगभग किसी मुख्य दर्शन ने ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया और उसे विचारणीय विषय भी उस प्रकार नहीं माना। धर्म उसे स्वीकार करके चले किंतु इसके लिए भी ईश्वर का अस्तित्व कभी प्रश्न का विषय नहीं बना। ध्यातव्य है कि महात्मा बुद्ध से लोगों ने आत्मा के अस्तित्व को लेकर तो प्रश्न किया किंतु ईश्वर के अस्तित्व को लेकर प्रश्न नहीं किया। इसका कारण यह है कि यहां ईश्वर को आत्मा से और आत्मा को ईश्वर से उस प्रकार से भिन्न देखा ही नहीं गया जिस प्रकार ईसाई या इस्लाम धर्मों में देखा गया है। अब, ईश्वर के स्वरूप विषयक यह प्रश्न दर्शन के क्षेत्र में आता है। किंतु नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) के रामकृष्ण परमहंस से यह प्रश्न करने पर कि 'ईश्वर को मैं कैसे मानूं, वह दिखाई नहीं देता' परमहंस का सहज भाव से यह कहना कि 'मुझे तो दिखाई देता है, ठीक वैसे ही जैसे तू दिखाई देता है' दार्शनिक तर्क का विषय नहीं हो सकता। दर्शन केवल इसे समझने का प्रयत्न कर सकता है, इस पर उंगली नहीं उठा सकता। दार्शनिक नरेन्द्र के प्रश्न का तो बेतुकापन दिखा सकता है, वह ऐंद्रिय प्रत्यक्षगम्य की सत्यता को भी अविश्वसनीय दिखा सकता है, अनेक दार्शनिकों ने यह दिखाया ही है, किंतु रामकृष्ण परमहंस के ईश्वर-प्रत्यक्ष को तर्क-युक्ति से संदेहास्पद नहीं दिखा सकता, क्योंकि जो युक्तियां ऐंद्रिय प्रत्यक्ष को संदेहास्पद सिद्ध करती हैं वे या वैसी युक्तियां भी उस जैसे प्रत्यक्षों पर लागू नहीं होतीं। अवश्य मनोविश्लेषक इस प्रत्यक्ष की मनोविकार के किसी प्रकार के रूप में व्याख्या कर सकता है केवल यह ज्ञान नहीं होने के कारण कि स्वयं उसका सिद्धांत अभी तक शास्त्र या विज्ञान कहलाने तक के योग्य नहीं है, क्योंकि उसका तथाकथित विज्ञान केवल मनोविकारों के लक्षणों की व्याख्या के लिए अभ्युपगम कल्पित करता है, जिन अभ्युपगमों की कोई निश्चित परीक्षा संभव नहीं है।[1] यद्यपि यदि वह विज्ञान कहलाने योग्य हो भी जाए, तो भी उसके क्षेत्र की सीमा मनोरोगियों तक ही सीमित रह सकती है, स्वस्थ लोग उसमें नहीं आते, फिर परमहंस तो उसमें कैसे आएंगे। किंतु मनोविश्लेषक तब भी ऐसे सभी व्यक्तियों पर निर्णय देने का अपने को अधिकारी मानने की उद्दंड मूर्खता करते हैं।

अब जहां तक विज्ञान का संबंध है, वह इंद्रियगम्य विषयों की एक व्यवस्था कल्पित कर उनके व्यवहार की व्याख्या और उस व्यवहार का नियोजन तो बहुत दूर तक कर सकता है किंतु विषयों और उनके व्यवहार के नियमों की व्यवस्था की अपनी सत्यता को सिद्ध करने के लिए उसके पास

कोई भी युक्ति नहीं है यह डेविड ह्यूम ने दिखाया था। ह्यूम का आक्रमण वास्तव में चौतरफा था। उसने विज्ञान के साथ धर्म और सदसद् विवेक के आधारों को भी खोखला बताया। इम्मेनुएल कांट ने विज्ञान और सदसद् विवेक के आधारों की रक्षा करने के लिए एक वैकल्पिक दर्शन-व्यवस्था का प्रतिपादन किया, किंतु ईश्वर की और इस प्रकार ईसाई प्रकार के धर्म की रक्षा में उसने रुचि नहीं ली। यहां कांट के धर्म और विवेक विषयक प्रतिपादनों पर विचार अवान्तर होगा,[2] किंतु जहां तक विज्ञान का संबंध है उसके संबंध में उसने केवल इतना ही सिद्ध किया कि इसका आधार मनुष्य की अतींद्रिय चेतना की जगद्रचना-वृत्ति (ए-प्रायराइ केटेगरीज़ ऑफ अंडरस्टेंडिंग एंड ए-प्रायराइ कंडीशंस् ऑफ इन्ट्यूइशन) में है। इस प्रकार से कांट ने विज्ञान, या कहें प्राकृतिक विज्ञान, को आधार तो दे दिया किंतु किस शर्त पर? ह्यूम से अपना रास्ता अलग रख कर। किंतु प्राकृतिक विज्ञान तो अपना आधार बाहर भौतिक जगत में देखता है ! ह्यूम के बाद पाश्चात्य दार्शनिक जगत में यह भौतिक आधार विज्ञान को कोई नहीं दे सका सिवाय कार्ल मार्क्स जैसों के, जिन्होंने युक्ति का रास्ता छोड़ कर आस्था का रास्ता अपनाया। अब इन बेचारों की दयनीयता की कल्पना की जा सकती है जिन्होंने आस्था के लिए ईश्वर, आत्म चैतन्य, ऋत आदि जैसी ज्योतिमान सत्ताओं को छोड़ कर अंधतमसमय सत्ता को चुना।

अब यहां द्रष्टव्य है कि ईश्वर, सदसद्, दिव्य ऋत आदि आस्था के विषय उनके लिए हैं जो इन्हें बाहर, अपने से अलग, परलोक स्थित अस्तित्वों के रूप में देखते हैं। वैदिक ऋषियों, कबीर, नानक आदि संतों और रामकृष्ण परमहंस आदि सिद्धों के लिए ये आस्था के विषय नहीं थे, ये साक्षात्कार के विषय थे। उनके साक्षात्कार पर ह्यूम की युक्तियां इसलिए लागू नहीं होतीं क्योंकि ह्यूम केवल ऐंद्रिय प्रत्यक्ष को ही सत् के लिए प्रमाण मानता है जिस मान्यता के लिए उसके पास कोई प्रमाण नहीं है, केवल हठ है।

यहां ईश्वर के अस्तित्व और धर्म के उससे संबंध के प्रश्न पर संक्षेप से विचार करना स्थाने होगा। हमने ऊपर कहा कि भारत में किसी मुख्य दर्शन ने ईश्वर को स्वीकार नहीं किया और भारत के दो प्रमुखतम धर्मों : जैन और बौद्ध : ने भी ईश्वर को स्वीकार नहीं किया। यदि थोड़ा गहराई से देखा जाए तो वैष्णव, शैव और सिख धर्म भी उस अर्थ में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं जिस अर्थ में ईसाई और मुस्लिम धर्म उसे मानते हैं, क्योंकि संपूर्ण भारतीय चिंतन में ईश्वर अंतर्यामी है—अंतर्यामी अर्थात् जगत में सर्वत्र अंतर्व्याप्ति, वह जगत से अलग बड़ा कोई अस्तित्व नहीं है। अवतारवाद को स्वीकार करने वाले भी ईश्वर को इसी रूप में देखते हैं यह श्रीमद्भागवत महापुराण, श्रीमद्भगवद्गीता और तुलसीकृत रामचरित मानस से जितने चाहें उद्धरण देकर दिखाया जा सकता है। इससे ईश्वर का क्या अर्थ हो जाता है यह निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म की तथागतगर्भ की अवधारणा से देखा जा सकता है। तथागतगर्भ की अवधारणा के अनुसार जगत की वस्तुमात्र : जीव मात्र ही नहीं : तथागत तत्त्व से अंतर्गर्भ है, उसमें यह तत्त्व आवृत रूप में और निरावृत होने की प्रतीक्षा में विद्यमान है। यह अवधारणा अद्वैत वेदांत की जगत को विवर्त मानने की अवधारणा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है, कम से कम ईश्वर की दृष्टि से। ऐसे में जब कुछ लोग कहते हैं कि 'मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता' तब वे या तो यह नहीं जानते कि वे क्या कह रहे हैं या फिर 'ईश्वर' को ईसाई और मुस्लिम धर्मों के अर्थ में समझते हैं। तब भी उनसे यदि कोई पूछे कि 'आप क्यों ईश्वर को नहीं मानते?' तो वे उत्तर देंगे कि क्योंकि उसके अस्तित्व के लिए कोई प्रमाण नहीं है। प्रश्न करें कि कैसा प्रमाण चाहिए? तो वे उत्तर देंगे कि 'दिखाई नहीं देता।' किंतु जैसा कि हमने ऊपर ह्यूम के उल्लेख से दिखाया, दिखाई तो भौतिक तत्त्व भी नहीं देता। वास्तव में भौतिक तत्त्व भी केवल आस्था का ही विषय है यह पश्चिम में देकार्ट, बर्कले और ह्यूम ने और भारत में वसुबंधु ने और एक प्रकार से कांट और दिङ्नाग आदि ने भी दिखाया है। कुछ लोग इस प्रत्यक्ष की मांग के प्रतिकार के रूप में जगत की रचना और उसके लिए किसी रचयिता के होने की युक्ति देते हैं: जगत को कोई रचने वाला होना चाहिए। इसके विरोध में ये लोग तर्क देते हैं कि 'यदि प्रत्येक वस्तु के पीछे किसी कारण का होना अनिवार्य है तो यह प्रश्न भी उतना ही स्वाभाविक है कि ईश्वर का स्रष्टा कौन है?'[3] यह युक्ति भी केवल अविचार पर आधारित है। कारण की अपेक्षा भौतिक कार्य को होती है और इस प्रकार भौतिक संदर्भ में ही कारण के कारण का प्रसंग उपस्थित होता है, चेतन कारणता में यह प्रसंग उपस्थित नहीं होता। सारा सृजन-कर्म अपूर्व कारणतामूलक ही होता है। मशीन के होने पर प्रश्न उठता है कि इसे किसने बनाया, उसका आविष्कार करने वाले के संबंध में यह प्रश्न नहीं उठता कि उसकी आविष्कार-बुद्धि का किसने आविष्कार किया? यह आश्चर्य की बात है कि ईश्वर के विरुद्ध यह युक्ति एक अकाट्य युक्ति के रूप में स्वीकृत चली आ रही है और इसके मूर्खतापूर्ण होने को किसी ने नहीं देखा। सृजन-कर्म का स्रोत चेतना में न इंद्रियगम्य होता है और न अंतःकरणगम्य, किंतु इससे उसका अस्तित्व संदिग्ध नहीं हो जाता। ब्रह्मांड का स्रोत ऐसा ही कोई सृजन-कर्म नहीं है, इसके लिए युक्ति क्या

है[4] सिवाय इस बालिशतापूर्ण पूर्वग्रह के कि 'जो दिखाई नहीं देता उसका अस्तित्व कैसे मानें?'

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि धर्म और विज्ञान के समन्वय की बात, जो बहुत से धार्मिक लोग विज्ञान को नहीं समझने के कारण उसके सम्मान से अभिभूत होकर करते हैं, कोई अर्थ नहीं रखती। यह 'योग' को 'योगा'[3] बना कर मेडिकल साईंस का एक अंग बनाने जैसा है। इस समन्वय से इसके नारे लगाने वालों का क्या अर्थ है यह हम संक्षेप से देखने का प्रयत्न करेंगे। क्या इसका यह अर्थ है कि धर्म को विज्ञानसम्मत होना चाहिए? या कि इसका अर्थ है कि विज्ञान को कुछ धार्मिक मान्यताओं को भी स्वीकार कर लेना चाहिए? या कि यह कि दोनों को परस्पर संगत होना चाहिए? जहां तक मेरी जानकारी है, इस समन्वय के अधिवक्ता इसके संबंध में कोई विचार नहीं करते, किंतु उनका प्रथम ही अर्थ होता है क्योंकि विज्ञान का अंग्रेजों के समान ही हमारे में आतंककारी आदर है। 'वैज्ञानिक दृष्टि' को धार्मिक लोग भी स्वतःप्रमाण दृष्टि ही मानते हैं इसलिए अपने-अपने धर्म-संप्रदाय के सिद्धांतों को विज्ञानसम्मत दिखाना और इस प्रकार बनाना चाहते हैं, किंतु जैसा कि हमने ऊपर देखा, विज्ञान केवल ऐंद्रिक संदर्भ में वस्तु-व्यवहार की कारगर विधा के रूप में प्रामाणिक होने के अतिरिक्त अन्य किसी भी संदर्भ में प्रामाणिक नहीं है, इसलिए धर्म के इससे समन्वय का कोई अर्थ नहीं बनता। यह नारा अंग्रेजों की विजय होने पर एक दूसरे अर्थ में लगा था। तब इसका अर्थ यह नहीं था कि महात्मा बुद्ध की संबोधि को या उनके 'आर्य सत्यों' को विज्ञानसम्मत होना चाहिए। इसका अर्थ न धर्म-दृष्टि का विज्ञान-दृष्टि से अपने को संगति में रखना था और न धार्मिक व्यक्ति से यह अपेक्षा कि वह विज्ञान-दृष्टि के विपरीत नहीं जाए। इसका अर्थ केवल यह था कि एक समाज में दोनों पक्ष रहने चाहिएं। उस समय यूरोपीय सभ्यता उत्कर्षोन्मुख थी और यंत्रारूढ़ औद्योगिक क्रांति उसके विजयाभियानों की वाहक थी। उसने भारत को भी पददलित कर दिया था जबकि भारत एक उत्कृष्ट सांस्कृतिक परंपरा का उत्तराधिकारी था। यूरोप से इस पराजय का कारण हमारे तत्कालीन मनीषियों को हमारा विज्ञान में पिछड़े होना प्रतीत हुआ। इस कारण उन्होंने भारत के लिए वैज्ञानिक ज्ञानसंपन्न होना भी आवश्यक समझा। उनका यह विचार उपयुक्त था या नहीं, यह एक अत्यधिक जटिल प्रश्न है जिस पर हमने अन्यत्र[5] कुछ विचार किया है, यद्यपि उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, यहां हम केवल इस प्रकार के समन्वय की इस नितांत युक्तिसंगत प्रतीत होने वाली बात के भी संदेहास्पद होने के संबंध में महात्मा गांधी की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे, जिन्होंने इस यंत्रारूढ़ यूरोपीय सभ्यता को शैतानी कहा था। स्वयं हमें भी यह सभ्यता रामायण में वर्णित सोने की लंका का ही स्मरण कराती है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे यहां, या अन्यत्र भी, धार्मिक लोग अंधविश्वासों में ग्रसित नहीं होते। निश्चय ही होते हैं, किंतु उन अंधविश्वासों का कारण वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव नहीं होता, बल्कि दृष्टि का अभाव ही होता है। अंधविश्वासों की कमी विज्ञानाराधकों में भी कम नहीं होती। इसका एक छोटा-सा उदाहरण श्री एम.एन. राय की ऊपर उद्धृत पुस्तक है जिसमें विज्ञान से परिचय के और दर्शन की समझ के नितांत अभाव के साथ विज्ञान-भक्ति और धर्म-विरोध का अतिरेक सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। किंतु यूरोप में तो इससे कहीं अधिक अंधतापूर्ण पुस्तकें भी लिखी गई हैं। किंतु यह अंधता न वास्तव दृष्टि-संपन्न धार्मिकों में दृष्टिगोचर होती है और न वैज्ञानिकों में। प्रथम के उदाहरण रूप में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी आदि देखे जा सकते हैं और दूसरे के उदाहरण रूप में अल्बर्ट आईंस्टीन और आर्थर एडिंग्टन आदि। ❖

संदर्भ

1. द्रष्टव्य **मिन्नेसोटा स्टडीज इन दि फिलोसोफी ऑफ साईंस, जिल्द 1 : दि फाउंडेशंस् ऑफ साईंस एंड दि कांसेप्ट्स ऑफ साईकोलोजी एंड साईकोएनेलेसिस,** प्रकाशक—यूनीवर्सिटी ऑफ मिन्नेसोटा प्रेस, 1962।
2. इन पर हमने **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** (प्रकाशक—भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली) तथा **मूल्यतत्त्व मीमांसा** (प्रकाशक—दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर) पुस्तकों में विस्तार से विचार किया है।
3. द्रष्टव्य मानवेन्द्रनाथ राय, **विज्ञान और दर्शन**, पृ. 10 (अनुवादक—नन्दकिशोर आचार्य, प्रकाशक—वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर)।
4. ऐसे स्रोत की संभावना पर हमने 'ऋत, प्राकृतिक नियम और मानवीय अनियम' (**उन्मीलन**, जुलाई, 1996) में तथा **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** के 'प्राकृतिक जगत' अध्याय में विचार किया है।
5. 'महात्मा गांधी और हिन्दस्वराज', **गांधी-मार्ग** द्वैमासिक के किसी अंक में और हमारे लेख-संग्रह **साहित्य-चिंतन और युग-चिंतन** (प्रकाशक—राका प्रकाशन, इलाहाबाद) में, 'भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और मूल्य विमर्श', **गांधी-मार्ग,** सितंबर-अक्टूबर, 1999 में तथा **भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम और मूल्यविमर्श**, सं. गोविन्दचंद्र पांडे (प्रकाशक—इलाहाबाद संग्रहालय) में।

मानसिक गुलामी का शब्दकोश

निर्मल वर्मा

आजादी मिलने के बाद हमने अपनी मानसिक गुलामी का एक बृहत् शब्दकोश तैयार किया है, जहां अर्थों की व्यवस्था तो है, किंतु वह व्यवस्था नहीं, जिसके अर्थालोक में एक साधारण भारतवासी अपने जीवन की अर्थवत्ता ग्रहण करता है। इससे हमारे समाज का तो अहित हुआ है, वह तो आंखों के सामने है, किंतु इससे हमारे साहित्य, चिंतन और विचार की दुनिया कितनी विपन्न हुई है, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

यह एक सर्वविदित और निर्विवाद सत्य है कि विचारों के व्यापार में शब्दों की करेंसी केंद्रीय भूमिका अदा करती है। जिस तरह ग्रेशम नियम के तहत खोटे सिक्के बाजार से खरे सिक्कों को निष्कासित कर देते हैं, उसी तरह खोटे शब्द विचारों की दुनिया से खरे शब्दों को धीरे-धीरे गायब कर देते हैं। आज जब हम भारतीय, विशेषकर हिंदी के बौद्धिक परिदृश्य पर नजर डालते हैं, तो वह खोए हुए जातीय शब्दों का ऊसर मरुस्थल-सा दिखाई देता है, जहाँ असली वनस्पति की जगह प्लास्टिक के पौधे उसे और अधिक भयावह बनाते हैं। हम शायद ही कभी इस बात पर चिंता करते हैं कि जिन शब्दों को लेकर इतना धूम-धड़ाका और बवंडर खड़ा किया जाता है, स्वयं उन शब्दों का संस्कार हमारी बौद्धिक चिंताओं से कितना मेल खाता है। धर्मनिरपेक्षता एक ऐसा ही शब्द है। क्या एक भारतीय के लिए 'धर्म' का वही भावार्थ है, जिसका सिक्का 'रिलीजन' की मुहर लगाकर पश्चिमी दुनिया में चलता है? यदि नहीं तो वह शब्द, जो भारतीय मनीषा और मानस में इतना गहन और समृद्ध रोल अदा करता है, जो उसके भावनात्मक संसार के केंद्र में है, उसके प्रति निरपेक्ष रहने के क्या मानी रह जाते हैं? सच तो यह है कि जिस अंग्रेजी शब्द 'सेक्युलरिज्म' के शब्दार्थ को लेकर हम उसे 'धर्मनिरपेक्षता' के नाम पर अपनी वैचारिक मंडी में चलाते हैं, वहां उसका दो कौड़ी का मूल्य नहीं। यूरोप के राजनीति शास्त्र में 'सेक्युलरिज्म' का जो अपना विशिष्ट इतिहास रहा है, उसका हमारी सांस्कृतिक पीठिका से दूर का लेना-देना नहीं और संस्कृति में 'धर्म' की जो भूमिका रही है, उसकी यूरोप की उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से कोई तुलना नहीं, जहां चर्च और राज्य के बीच बराबर एक आक्रामक विरोध बना रहा है।

हमारी संस्कृति का परिवेश जहां अन्य तत्त्वों से निर्मित होता है, वहीं उसका एक बड़ा अंश शब्दों के पारस्परिक अंतस्संबंधों से भी संयोजित होता है। उलझन तब उत्पन्न होती है, जब हम आयातित शब्दों की आड़ में अपने समाज में कृत्रिम और छद्म द्वंद्वों का आविष्कार करने लगते हैं। यह नहीं कि भारतीय समाज के अपने अंतर्विरोध नहीं हैं, लेकिन ये अपने स्वरूप और चरित्र में वे बिल्कुल नहीं हैं, जो हमने आयातित शब्दों के सहारे यूरोप की नकल में अपनी धरती पर आरोपित किए हैं। यदि धर्म ने हमारी सांस्कृतिक परंपरा में विभिन्न संप्रदायों के बीच एक सामंजस्य निर्मित किया था, तो इसलिए कि 'धर्म' और 'संप्रदाय' के बीच का रिश्ता उससे बहुत अलग था, जो यूरोप में ईसाई चर्च और समाज के बीच था। डॉ. गोविंदचंद्र पांडे ने अपने एक भाषण में इस बात पर विरोध प्रकट किया था कि शब्दों के अंधाधुंध खिलवाड़ में किस तरह हमने 'संप्रदाय' जैसे सुंदर शब्द को अपनी सेक्युलर दासवृत्ति के रहते 'सांप्रदायिकता' जैसी मनोवृत्ति में अवमूल्यित कर दिया है। हम सोचते हैं कि धर्म के प्रति निरपेक्ष अथवा विमुख रहकर हम सांप्रदायिकता को रोक सकते हैं। होता इसके विपरीत है। जिस धर्म को हमने अपनी व्यवस्था के मुखद्वार से निकाल दिया था, वह अपने अभाव के कारण हमारे भीतर के मानस को इतना रीता और रेतीला बना देता है कि हम उसे छिप कर पिछले दरवाजे से अपने

पास बुला लेते हैं—किंतु अब उसमें धर्म की गरिमा और प्रेम न होकर एक गहरी घृणा और असहिष्णुता होती है—हर दमित आकांक्षा की तरह, जिसे मुक्त हवा में सांस लेने की आजादी नहीं है। हम जिसे सांप्रदायिकता का विष कहते हैं, वह धार्मिक भावना का ही दमित और विकृत रूप है, जो बाहर की हवा न पाकर भीतर ही भीतर रिसता है और मौका पाते ही मवाद की तरह बाहर निकल आता है।

यहां मैंने सिर्फ कुछ आयातित शब्दों की चर्चा की है—धर्म, संप्रदाय, धर्मनिरपेक्षता आदि, वे सिर्फ उदाहरण के लिए, क्योंकि उनकी संख्या इससे कहीं ज्यादा है। अभी कुछ अरसे पहले तक—और आज भी अनेक भारतीय मार्क्सवादियों द्वारा—इस अंधाधुंध रौ में वर्ग, वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा और साम्यवादी न्याय की चर्चा की जाती थी—बिना यह सोचे कि इन शब्दों से हमारी जाति-व्यवस्था और समाज-संगठन की पेचीदगियों को खोलने में कितनी मदद मिलती है। अपने में यह अनुसंधान की चीज है कि हमारे वामपक्षी आंदोलन को तहस-नहस करने में इन शब्दों ने कितनी संहारात्मक भूमिका अदा की है। वे उन गलत चाबियों की तरह हैं जिन्हें हमने काल्पनिक तालों को खोलने के लिए इस्तेमाल किया है—जिनसे चाबियां तो टेढ़ी-मेढ़ी हुई ही हैं, तालों का हवाईपन भी साबित हुआ है।

आजादी मिलने के बाद हमने अपनी मानसिक गुलामी का एक बृहत् शब्दकोश तैयार किया है, जहां अर्थों की व्यवस्था तो है, किंतु वह व्यवस्था नहीं, जिसके अर्थालोक में एक साधारण भारतवासी अपने जीवन की अर्थवत्ता ग्रहण करता है। इससे हमारे समाज का तो अहित हुआ है, वह तो आंखों के सामने है, किंतु इससे हमारे साहित्य, चिंतन और विचार की दुनिया कितनी विपन्न हुई है, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। जिन शब्दों के माध्यम से एक समाज के सदस्य आपस में वैचारिक आदान-प्रदान करते हैं, यदि उनके संदर्भ किसी दूसरे समाज से संबंध रखते हों—वह चाहे लोकतंत्र हो या स्वतंत्रता या सामाजिक न्याय—तो हम अपने चिंतन के बुनियादी प्रत्ययों से बिछुड़कर एक बियाबान जगत में भटकने लगते हैं, जिसके पेड़-पौधों का उस प्रकृति से कोई संबंध नहीं, जहां एक समय में हमारी जातीय स्मृति वास करती थी। आज के समय में भारतीय बुद्धिजीवी का एकमात्र कर्तव्य सिर्फ यह हो सकता है कि वह भूली हुई भाषा को अपनी चिंतन की परिधि में पुनःस्थापित कर सके, किंतु यह तभी संभव है जब वह उस खाई में झांकने का साहस करे जो पिछले वर्षों में हमारी जीवन-प्रणाली और वैचारिक प्रत्ययों के बीच फैल गई है। यदि उसमें इस अंतराल की पीड़ा नहीं है, तो खाई को पाटने का प्रयास भी पूरा नहीं होगा।

किंतु प्रश्न यह है कि जिस बीमारी के लिए स्वयं भारतीय बुद्धिजीवी जिम्मेवार है, क्या वह उसका निदान पा सकता है? यदि हमारा बुद्धिजीवी स्वयं अपनी वैचारिक दासता से अनभिज्ञ है, तो क्या उसकी बुद्धि उस विवेक दृष्टि का वाहक बन सकती है, जिसके आधार पर ही सही और प्रामाणिक कसौटियां विकसित और परिष्कृत होती हैं? सही और गलत, उचित और अनुचित के बीच भेद करने की बौद्धिक क्षमता केवल उस दृष्टि से हासिल होती है, जो यथार्थ के प्रति नितांत और निर्मम रूप से वस्तुपरक हो। इसमें न तो परंपरा का सम्मोहन काम देता है, न आधुनिकता का आकर्षण—वह हर तरह की अंतर्मुखी छायाओं, सब्जेक्टिविटी के छलावों से अपने को मुक्त रखने का प्रयास करती है, ताकि जो है उसे वैसा ही वस्तुपरकता के ठंडे आलोक में जांचा-परखा जा सके। हम क्या हैं—इस प्रश्न का उत्तर देने पर ही हम इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं कि—हमें क्या होना चाहिए अथवा क्या-क्या करना चाहिए? दूसरे शब्दों में, नीति का प्रश्न किसी आरोपित नैतिकता से नहीं, स्वयं यथार्थ की वस्तुस्थिति में अंतर्निहित रहता है।

हमारा बुद्धिजीवी वर्ग क्या अपने इस प्राथमिक कर्तव्य को पूरा कर पाया है? यदि नहीं, तो इसका सीधा-सा कारण यही है कि अपनी वस्तुस्थिति को आंकने के लिए जिस भाषा संस्कार की जरूरत होती है, उसे हमने बड़ी निष्ठुरता से नष्ट कर दिया है। वस्तुपरक दृष्टि तभी हासिल होती है, जब हम उस जमीन को पहचान सकें, जहां खड़े होकर हम यथार्थ का अवलोकन करते हैं। देखने में दोनों चीजें शामिल होती हैं—न सिर्फ वह जो देख रहे हैं, बल्कि वह भी जहां खड़े होकर हम देखते हैं। भाषा हमें वह भूमि देती है, जिस पर पैर टिका कर ही हम अपने यथार्थ का आकलन कर सकते हैं—पैरों के नीचे से यदि वह भूमि खिसकती जान पड़े जहां हम खड़े हैं, तो आसपास का समूचा परिदृश्य गड़बड़ा जाता है। हम विचारों के वाहक नहीं, विचारधाराओं की रखैल बन जाते हैं। अपने को किसी रेडिकल या 'क्रांतिकारी' विचारधारा से नत्थी कर हम अपनी वैचारिक दासवृत्ति से छुटकारा नहीं पा सकते। बंगाल के नवजागरण से लेकर स्वतंत्रता के आंदोलन तक हमारे अधिकांश बुद्धिजीवी वर्ग ने जिस 'भाषाई रेहटरिक' के प्रत्ययों का प्रयोग किया, उसका हमारे वैचारिक संस्कारों, बिंबों और प्रतीकों से कोई संबंध नहीं था। एक संस्कृति के प्रतीक वे दीए होते हैं, जिनकी रोशनी से हम अपनी यात्रा की दिशाएं खोजते हैं। यह संयोग नहीं था कि दो सौ साल पहले जब अंग्रेज यहां आए थे, तो उन्होंने सबसे पहले एक-एक कर इन दीयों को

बुझाना जरूरी समझा था या शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि भारतीय जनमानस को उसकी भाषा से उन्मूलित करते ही बाकी सब रोशनियां अपने-आप बुझ गई थीं। जो अंधकार तब शुरू हुआ था, उसमें हम आज भी जी रहे हैं।

संस्कृति, जनमानस और वैचारिक स्वायत्तता—इन तीनों के बीच गहरा संबंध है। भाषा इनके बीच एक जोड़ने वाली कड़ी का काम करती है। अर्थों के इस तथ्य की सच्चाई अंग्रेजी शासक कितनी गहराई से महसूस करते थे, यह मैकाले की इस टिप्पणी से स्पष्ट होती है, जो उन्होंने 1913 में की थी, 'जो बंगाली पश्चिमी शिक्षा पाएगा, उसे उन सब प्रत्ययों से विरक्ति हो जाएगी, जिसे हिंदू कहा जाता है। अगर आप एक ऐसी युवा पीढ़ी उत्पन्न करना चाहते हैं, जो न केवल अपनी अस्मिता और विरासत से अनभिज्ञ हो, बल्कि उसके प्रति गहरी हिकारत भावना रख सके, तब उसे संस्कृत की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि वह एक ऐसी भाषा है, जो एक भारतीय को अपनी सशक्त परंपरा और विशिष्ट अस्मिता के प्रति सचेत करती है—उसे अंग्रेजी की शिक्षा देनी चाहिए, जिसके माध्यम से वह पश्चिमी मूल्यों में दीक्षित हो सके।'

ये हमारे लिए आंख खोल देने वाले शब्द हैं। संस्कृत को, जो भारतीय भाषाओं के बीच सेतु का काम करती थी, भारतीय मानस से अपदस्थ करने का मतलब सिर्फ भारतीय एकता और अस्मिता को नष्ट करना ही न था, बल्कि विचार और चिंतन के उन बुनियादी प्रत्ययों और संकेतों को ही विस्मृति के अंधेरे में फेंक देना था, जिनसे एक भारतीय जीवन, प्रकृति, जाति, धर्म और ईश्वर से अपना सारगर्भित संबंध जोड़ता था। इन्हीं प्रत्ययों और प्रतीकों की वैचारिक भूमि पर खड़े होकर हम अपने को पहचानते हैं और जो 'अन्य' है, उसकी पड़ताल करते हैं। यही वैचारिक स्वायत्तता का उत्स है, जिसके सूखने पर चिंतन के सब स्रोत और सोते सूख जाते हैं। चूंकि अधिकांश भारतीय बुद्धिजीवी इस 'सूखे' में जीते हैं, वे समस्त प्रत्ययों और बिंबों के उस कोश को खाली कर देते हैं, जिसमें हमारी परंपरा और विरासत की अनुगूंजें छिपी रहती हैं। वे अनुगूंजें जो हमारी संस्कृति के टेक्सचर की बुनावट को विशिष्टता प्रदान करती थीं, अब अलग-अलग चीथड़ों में झूलती दिखाई देती हैं, जिन पर लिखे धर्म, संप्रदाय, लोकतंत्र और स्वतंत्रता जैसे शब्द खोखले, लावारिस और संस्कारहीन दिखाई देते हैं। क्या इन शब्दों के सहारे हम अपने बीच कोई अर्थपूर्ण संवाद की संभावना खोज पाएंगे—वह चाहे सांप्रदायिकता के बारे में हो अथवा मंडल रिपोर्ट के बारे में?

सबसे बड़ा व्यंग्य यह है कि हमारे समाज को जो छोटा-सा संप्रदाय, अब भी आधुनिकता की चपेट से अपने भाषागत संस्कारों को अक्षुण्ण रख सकता है, उसे हमारे शहरी पश्चिमी शिक्षा से लैस बुद्धिजीवी वर्ग ने 'पुनरुत्थानवादी' कह कर मुद्दत से हाशिए पर धकेल दिया है। संयोगवश यह शब्द भी हमारी मानसिक गुलामी की ही देन है, जिसके कारण पुनरुत्थान जैसे सुंदर शब्द का एक गाली की तरह इस्तेमाल किया जाता है। क्या किसी को पुनर्जीवित करना गुनाह है—वह बीमार मरीज हो अथवा रुग्ण संस्कृति? दरअसल, अपने समाज की यह बौद्धिक छुआछूत जिसके द्वारा परंपरावादियों को हमने अपने चिंतन की तथाकथित मुख्यधारा से काट कर फेंक दिया है, हमारी वैचारिक दरिद्रता को और अधिक बढ़ाती है। यह खुशी की बात है कि पिछले वर्षों में भारत के कुछ संवेदनशील बुद्धिजीवियों ने इन्हीं परंपरावादी पंडितों और उलेमाओं की वर्जित दुनिया में प्रवेश करने का बौद्धिक अभियान शुरू किया है। सुविख्यात दार्शनिक डॉ. दयाकृष्ण ने आधुनिक विद्वानों और संस्कृत के पंडितों और फारसी-अरबी के उलेमाओं के बीच अनेक विचार संगोष्ठियां आयोजित की हैं, ताकि कम से कम तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में हम अपने को औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त कर सकें। आज समस्या यह नहीं है कि हम आधुनिक पश्चिमी शिक्षा से कैसे अपने को बचा लें—हम चाहें भी तो यह असंभव है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जो शिक्षा पिछले डेढ़ सौ वर्षों से हमारे बुद्धिजीवी वर्ग के खून में घुल-मिल गई है, स्वयं उसके आलोचनात्मक औजारों से अपनी गुलाम मानसिकता की पड़ताल कर सकें। यदि गांधी यह पड़ताल कर्म और व्यवहार के क्षेत्र में कर सकते थे और उसके आधार पर स्वयं अपनी परंपरा के जीवंत प्रतीकों को विस्मृति के अंधेरे से निकाल सकते थे—उन्हें न केवल निकाल सकते थे, बल्कि स्वयं उसमें 'सत्याग्रह' जैसे औजारों का आविष्कार कर सकते थे—तो कोई कारण नहीं कि हम चिंतन के क्षेत्र में ऐसा नहीं कर सकते। इसी उपाय से हम पश्चिमी शिक्षा के औपनिवेशिक अभिशाप को स्वतंत्र चेतना के वरदान में परिणत कर सकते हैं।

किंतु यह वही बुद्धिजीवी कर सकता है, जो स्वयं इस शब्द की औपनिवेशिक संकीर्णता से—जो 'इंटेलेक्चुअल' शब्द की घिसीपिटी अनुकृति से आती है—मुक्ति पा सके। एक 'बुद्धिजीवी' को बुद्धि का परजीवी न रहकर संपूर्ण चेतना का वाहक होना होगा, ताकि वह बुद्धि की भूमिका को भारतीय मनीषा में पुनः परिभाषित कर सके। ❖

मानव-धर्म

डॉ. भगवान दास

समाज में लोगों को बांधे रखना या मिलाए रखना तभी हो सकता है, जब सभी एक-दूसरे को कुछ देते रहें या लेते रहें। इसे ही अधिकार और कर्तव्य का नाम दिया जाता है। एक-दूसरे के प्रति त्याग-भावना इसी में निहित है, बिना इस तरह के त्याग के कोई अपनी छोटी-छोटी जरूरतों को भी पूरा नहीं कर सकता। स्वार्थ भी परमार्थ के सहारे ही चल सकता है। संसार का यही अटल नियम है।

संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें अलग-अलग धर्म-संप्रदायों एवं उनके तौर-तरीकों में एकता महसूस करने व मिलती-जुलती बातें खोजने में आनंद आता है। ऐसे लोग इसी एकता के प्रबल पक्षधर होते हैं, इसके विपरीत अंतर खोजने और उन पर जोर देने वालों से उन्हें कष्ट पहुंचता है। मौलाना रूम ने कहा है—

खुशतर आं बाशद कि सिर्रे दिलबरां।
गुफ्ता आयद दर हदीसे दीगरां।।

अर्थात् अधिक उत्तम बात यही है कि प्रिय के प्रेम की बातें दूसरों की कहानियों में कही और सुनी जाए।

भागवत में कहा गया है—

'सभी कवियों व महापुरुषों ने सनातन सचाइयों को अपने-अपने ढंग से व्यक्त किया है। जानने वाले जानते हैं कि उनकी बातों में कहीं विरोधाभास नहीं है। वे उन्हें समग्र रूप में मिलाकर समझ लेते हैं।'

सुंदर से सुंदर चेहरा भी तब तक अपनी सुंदरता का अनुभव नहीं कर सकता, जब तक कि वह अपने को दर्पण में न देख ले। वेदांतियों व सूफियों, दोनों का कहना है कि ईश्वर-अल्लाह ने अपने अंदर छुपी बहुरूपता को प्रत्यक्ष करने हेतु 'शून्य' (अदम) के शीशे में स्वयं को देखा। सूफी कहता है कि 'ऐनियते हकीकी' सिर्फ 'गैरियते एतबारी' से ही समझी जा सकती है। वेदांती कहता है कि 'आत्म-अद्वैतसत्ता' यानी आत्मा की एकता का साक्षात्कार 'द्वैत-मिथ्यात्व' से ही हो सकता है। दोनों एक ही बात कह रहे हैं।

सूफी कहता है—

खुद रा ब लिबासे गैर दीदन अजबस्त।
कीं बुलअजबी कारे खुदाई बाशद।।

अर्थात् अन्य के वस्त्रों में स्वयं को देखना कितने आनंद की बात है। यही चमत्कार की बात है। यही ईश्वर का मार्ग है।

अपने विचारों और भावों को हम स्वयं भी तब तक नहीं समझ पाते, जब तक कि उनका प्रतिबिंब या प्रभाव हम दूसरों के मानस में नहीं देख लेते। यही कारण है कि वक्ता चाहता है, लोग उसे सुनें और लेखक चाहता है, लोग उसकी रचनाएं पढ़ें। इसी प्रकार चित्रकार कामना करता है कि लोग उसके चित्रों को देखें और प्रशंसा करें।

किसी विचार को एक ही भाषा के परदे से देखना ऐसा ही है, जैसा कि उसे एक आंख से अथवा एक ओर से देखना, जबकि उसी विचार को अनेक भाषाओं के भीतर से देखना ठीक वैसा ही है, जैसे दोनों आंखों से उसे चारों ओर से जी-भरकर देख लिया हो।

दो मित्र यदि दो भिन्न-भिन्न परिवेश में पल-बढ़कर युवा हुए हों, किंतु सभी संस्कृतियों की बुनियादी एकता एवं जीवन की समग्रता को समझने में समर्थ हों, तो उनका मिलना जितना रुचिकर एवं फलप्रद होता है, उतना रुचिकर एवं फलप्रद ऐसे दो मित्रों का मिलन कदापि नहीं हो सकता, जो

एक ही परिवेश में पल कर बड़े हुए हों। उन दोनों को ज्ञात होता है कि हम नए-नए देशों का भ्रमण कर रहे हैं। नई-नई जगह के आतिथ्य का आनंद ले रहे हैं, नए-नए दृश्य, नए-नए भोजन, नए-नए फूलों, नए-नए वस्त्रों एवं नए-नए रीति-रिवाजों का आनंद ले रहे हैं, जिनमें वे सभी सुख-सुविधाएं भी हैं, जो अपने यहां की चीजों में हैं और नयापन भी है। तब 'एकोहं बहु स्याम्' (मैं एक हूं, बहुत हो जाऊं) के ईश्वरीय सत्य के कुछ-कुछ अर्थ समझ में आते हैं और पता चलता है कि उस एकरूप ने अनेक रूप क्यों धारण किए।

यदि हम अपने किसी प्रिय को एक ही पोशाक में पहचानते हों, दूसरी में नहीं पहचानते, तो हम अपने प्रिय को नहीं पहचानते, पोशाक को पहचानते हैं। अपने 'प्रिय' को तभी पहचाना जा सकता है, जब उसे जापान के 'किमोनों' में या चीन के 'मंडारिन कोट' में या पुराने हिंदुस्तान के 'उत्तरीय' अथवा 'अवशीय' में या नए हिंदुस्तान की 'शेरवानी', कश्मीर के 'दुशाले' या ईरान के 'अबा' या 'चोगे' में, अरब के 'बरनोऊ' या यूरोप के 'हैट कोट' या 'पेटी कोट' में, अमरीकी हब्सियों की 'परों की पोशाक' में या पुराने रोमियों के 'तोगा' में—सभी में एक-सा पहचान सकें। यदि हम स्वयं ही बार-बार वस्त्र बदल कर शीशे के सामने खड़े हों, तो क्या हम अपने चेहरे या स्वयं को नहीं पहचान सकेंगे? हम चाहे संस्कृत में बोलें या अरबी में, हीब्रू में बोलें या यूनानी में, लातीनी या चीनी में, जेंद या जापानी में, प्राकृत या पालि में, गुरुमुखी या हजारों उन बोलियों में से किसी में भी, जिन्हें हम गढ़ चुके हैं या नित्य गढ़ते या भुलाते रहते हैं, हर हालत में हम अपनी आवाज को पहचान लेते हैं तथा तात्पर्य भी समझ लेते हैं।

इन सभी अलग-अलग बोलियों, वेशभूषाओं और तौर-तरीकों में इधर से उधर तक व्याप्त एक आंतरिक एकता है, जो इन सभी को संभाले एवं मिलाए हुए है। यही वह सचाई है, जिसे हमें अपनी स्मृति से भी मिटने नहीं देना चाहिए।

घड़े, मटके, सुराही, गिलास, लोटे, जग आदि पात्र कितने ही भिन्न-भिन्न रूपों के हों, उन सभी के अंदर का पानी एक है। लैंप, लालटेन, दीपक, कंदील, फानूस और बल्ब कितनी भी अलग-अलग शक्लों के हों, सबके अंदर की रोशनी एक है। लकड़ी हो या कोयला, उपले हों या कोई और ईंधन, आग सबके अंदर एक है। भ्रमणशील अगणित पशु हैं और अगणित ही उनके रूप हैं, पर प्राण सबके अंदर एक है। इसी प्रकार अनेक धर्म एवं उनके अनेक तौर-तरीके होते हुए भी व्यापक मानव-धर्म यानी मजहबे इंसानियत एक ही है, जो उन सबके अंदर समान है।

प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान जे.ई. कारपैंटर ने अपनी पुस्तक 'दि प्लेस ऑफ क्रिश्चियानिटी इन दि रिलीजंस ऑफ दि वर्ल्ड' में चीन की चर्चा करते हुए लिखा है—

'चीन में यह परंपरा है कि जब कई देशों या प्रांतों के व्यक्ति एक-दूसरे से मिलते हैं, तो सभी एक-दूसरे से पूछते हैं, 'आप किस महान धर्म के हैं?' तीन व्यक्तियों में संभवतः एक कनफूशियन धर्म को मानने वाला है, दूसरा ताओ धर्म को और तीसरा बौद्ध धर्म को। फिर उन तीनों में से प्रत्येक अपने धर्म को छोड़कर किसी दूसरे धर्म की मुक्तकंठ प्रशंसा करते हैं। फिर तीनों मिलकर कहते हैं, 'धर्म बहुत-से हैं, समझ की बात एक है, हम सब भाई-भाई हैं।'

चीन की इस प्रथा को जानकर एक प्रकार के व्यक्ति चिल्ला उठेंगे—'ढोंगी!' दूसरे प्रकार के कहेंगे—'पुराने खूसट, पागल, काठ के उल्लू!' तो तीसरे प्रकार के व्यक्ति जिनकी संख्या दुर्भाग्य से बहुत कम रह गई है, कह उठेंगे—'कितनी अच्छी न्याय, समझदारी और भलाई की बात है!' अलग-अलग विधाओं एवं कलाओं के ज्ञाता, यदि सच्चे विद्वान हैं, नीम-हकीम नहीं हैं, तो एक-दूसरे की विधाओं एवं कलाओं के अंदर उसी एक मानवीय कौशल, लगन व बुद्धि की प्रखरता को देख सकते हैं, उनकी प्रशंसा कर सकते हैं तथा उसके सामने आदर से सिर झुका सकते हैं।

जापान के एक विद्वान डाक्टर इनाजो नितोबे ने अपनी पुस्तक 'जापान' में लिखा है कि सातवीं सदी के शुरू में जापान में एक बहुत बड़ा संत व नेता हुआ है, जिसका नाम शोतोकू था। जापान के इतिहास में उसे बड़े-से-बड़े महात्माओं में गिना जाता है। कहा जाता है कि उसके मरने पर बूढ़े लोग इस प्रकार रोए, जैसे उनका बच्चा मरा हो और जवान लोग इस प्रकार रोए, मानो उनकी मां मर गई हो। उस समय 'शिनतो' धर्म जापान में पहले से चला आ रहा था तथा कनफूशियन धर्म चीन से और बौद्ध धर्म भारत से कोरिया के रास्ते जापान पहुंच चुके थे। इन तीनों धर्मों के अनुयायी आपस में लड़ने लगे थे, भय था कि जापानियों में झगड़े न बढ़ जाएं। शोतोकू ने उस असंतोष का समाधान इन शब्दों में किया—

'शिनतो धर्म, धर्म की जड़ और उसका आरंभ है। पृथ्वी और आकाश के उद्गम के साथ ही इस धर्म के अंकुर फूटे। यह धर्म मनुष्य को शुरू का रास्ता दिखाता है। कनफूशियन धर्म, धर्म की शाखाएं एवं पत्ते हैं। मनुष्य के जन्म

के साथ ही इस धर्म की कोंपलें निकलीं। यह धर्म मनुष्य को बीच का रास्ता बताता है। बौद्ध धर्म, धर्म का फूल और उसका फल है। मानव की मानसिक शक्तियों के बढ़ने के साथ ही इसका प्रादुर्भाव हुआ। यह धर्म व्यक्ति को अंतिम रास्ता दिखाता है, अतः इन तीनों में से किसी एक को छोड़ना या अपनाना अथवा छोटा या बड़ा बताना हठधर्मिता है। बाहर से किसी भी नए धर्म के आने व उसे अपनाने से हमारी मानसिक ऊंचाई एक हाथ बढ़ेगी ही। नया धर्म पुराने धर्मों का अधिकार छीनता नहीं है, अपितु उनकी रोशनी में वृद्धि करता है और उन्हें चमकाता है।'

एक अंग्रेज कवि का कहना है, 'दूसरों का मजाक उड़ाना छोटे दिल वालों का काम है। बड़े और उदार दिल वालों के तो तौर-तरीके भी बड़े और उदार ही होते हैं।'

चीनी बौद्ध विद्वान लू शुन-यान ने लिखा है—

'भिन्न-भिन्न धर्मों की शिक्षा एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं है। उदारमना जानते हैं कि सभी धर्मों का सत्य एक ही है, जबकि छोटे लोग मात्र उनके मतभेद ही देखते हैं।'

किसी समय की पवित्र आत्माओं के अंदर एक-सा ज्ञान प्रकट होकर सभी को एक ईश्वर और सभी मनुष्यों को मित्र बना देता है।

एक सूफी ने कहा है—

तफ़रका दर नफ़्से हैवानी बुबद
रूहे वाहिद रूहे इनसानी बुबद

अर्थात् अंतर या भेदभाव पशुओं या पशुओं जैसे दिमाग वालों के अंदर होता है। मानव आत्मा वह है जो सब आत्माओं की एकता को समझती है।

अरबी का शब्द 'इनसान', 'उनस' से निकला है, जिसका अर्थ है, 'प्रेम' या 'हमदर्दी'। मनुष्य वह है, जो सबके साथ प्रेम करे, जो सब मनुष्यों का मित्र हो। इसी प्रकार संस्कृत शब्द 'आर्य' 'ॠ' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'जाना', 'आर्य' शब्द का अर्थ बताते हुए एक विद्वान ने कहा है—

निवारणार्थम् अर्तीनाम् अर्तुम् योग्यो भवेत् तु यः।
अर्यते सततञ्चार्तैः स आर्य इति कथ्यते।।

अर्थात् 'आर्य' वह होता है, जो दूसरों के दुख दूर करने योग्य हो और जिसके पास इसी निमित्त दुखी लोग आते हों।

गीता में बार-बार कहा गया है कि 'जो सब प्राणियों को एक दृष्टि से देखता है तथा स्वयं को सब में और स्वयं के अंदर सभी को देखता है व एक ईश्वर के अंदर सभी को और सभी के अंदर एक ईश्वर को देखता है, वही ज्ञानी है और वही देखने वाला है।'

यह भी स्पष्ट है कि किसी भी धर्म, संप्रदाय के सारे तौर-तरीके व सारी बातें एक समान आवश्यक या एक समान महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं। सभी धर्मों में यह बात बता दी गई है कि उनमें कुछ बातें ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं और कुछ कम, कुछ 'नित्य' हैं और कुछ 'काम्य', कुछ कड़े आदेश हैं और कुछ समझाने हेतु उदाहरण स्वरूप हैं, कुछ 'मोहकमात' हैं और कुछ 'मुतशाबेहात'। सभी धर्मों में यह भी बताया गया है कि देश और काल व दशा के अनुरूप मनुष्य के ये छोटे-छोटे दायित्व या ऊपरी तौर-तरीके परिवर्तित होते रहते हैं। महाभारत में लिखा है—

'देश काल निमित्तानाम् भेदैः धर्मो विभिद्यते।'

अर्थात् देश और काल, स्थान और समय के अंतर से धर्म अलग-अलग होते हैं। यहां धर्म से तात्पर्य इन्हीं ऊपरी तौर-तरीकों से है।

इनजील में लिखा है—

'प्रत्येक वस्तु के लिए मौसम होता है और संसार की किसी भी जरूरत के लिए एक समय होता है। पैदा होने का एक समय होता है, तो मरने का अलग समय होता है। वृक्षारोपण का अलग समय होता है, तो उन्हें उखाड़ने का समय भी अलग ही होता है। बनाने का अलग समय होता है, तो गिराने का समय अलग होता है। कोई समय रोने का होता है, तो कोई समय हंसने का, कोई समय चुप रहने का होता है तो कोई समय बोलने का।'

मुहम्मद साहब की एक प्रसिद्ध हदीस है। वे कहा करते थे—'इस समय तुम एक ऐसे जमाने में हो कि तुम्हें जो आदेश दिए जा रहे हैं, उनमें से यदि एक दसवां भाग भी छोड़ दोगे तो तुम तबाह हो जाओगे। इसके बाद एक समय आएगा कि जिन्हें जो आदेश इस समय दिए गए हैं, उनके दसवें भाग की भी पूर्ति कर देगा, तो मुक्ति पा जाएगा। (तिरमिजी)

मौलाना जलालुद्दीन रूमी ने दीन की 'अस्ल' यानी उसके प्रमुख अंश को उसके 'फरू' या गौण अंश से अलग करते हुए अपनी मस्नवी में लिखा है—

मन ज़ क़ुरा मग़ज रा बरदाश्तम्
उस्तख़ां पेशे सगां अन्दाख़्तम्

अर्थात् मैंने कुरान से सार-तत्त्व ग्रहण करके सारहीन चीजें कुत्तों के सामने डाल दी हैं। मौलाना रूम की मस्नवी को मुसलमान पंडित 'फारसी जबान का कुरान' कहते हैं।

गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट शब्दों में वैदिक कर्मकांडों की निंदा करते हुए कर्मकांडियों को 'नासमझ' बताते हैं।

एक बात और है। जिनकी आत्माएं बच्चों जैसी हैं, उन्हें हम धीरे-धीरे सामान्य चीजों से विशेष चीजों की तरफ ले जाते हैं। धीरे-धीरे उन्हें शब्दों के वास्तविक अर्थ की ओर लाते हैं। इनजील में कहा गया है—'बच्चों को दूध दो और बड़े लोगों को खाना दो।' हजरत मूसा और हजरत मुहम्मद भी बिना पर्दे के ईश्वरीय रूप को नहीं देख सकते थे। अर्जुन की जब पलभर के लिए आंखें खुलीं और उसने 'हजारों सूर्यों से बढ़कर' चमक वाले उस विराट् रूप को देखा, तो वह कांप उठा। उस अनंत ज्योति के समक्ष व्यक्ति का समस्त अहं एवं अस्तित्व जलकर या पिघलकर समाप्त हो जाता है।

पुराण में लिखा है—

'सामान्य मनुष्यों के देवता नदियों-तालाबों में होते हैं। उनसे अधिक सोचने-समझने वालों के देवता आकाश एवं उजाले में होते हैं। बच्चों के देवता लकड़ी-पत्थर में होते हैं और बुद्धिमान व्यक्ति स्वयं अपनी आत्मा के अंदर अपने ईश्वर से साक्षात्कार करता है।'

हीरा प्रत्येक व्यक्ति को नहीं दिखाया जाता। उसका मूल्यांकन भी हर कोई नहीं कर सकता। अतः वास्तविक ज्ञान उपमाओं व उदाहरणों में ही व्यक्त किया जाता है।

हजरत ईसा ने इनजील में कहा है—

'ईश्वरीय रहस्य को जानने का तुम्हें अवसर दिया गया है, लेकिन दूसरे लोगों को यह अवसर नहीं दिया गया। जिसके पास चाबी होगी, उसी को अवसर मिलेगा और भरपूर मिलेगा, लेकिन जिसके पास चाबी नहीं है या उससे यह डर है कि उसके पास चाबी हो तो वह चाबी का अनुचित उपयोग करेगा, उससे कभी-कभी जो उसके पास है, वह भी ले लिया जाता है।'

फिर भी प्रश्न है कि धर्म, संप्रदाय या रिलीजन है क्या चीज? यहां इस पर सामान्य चर्चा की जा सकती है।

अंग्रेजी शब्द रिलीजन दो लातीनी शब्दों 'रि' और 'लिजारे' से बना है। इसका अर्थ है 'फिर से बांधना' यानी जो चीज दो व्यक्तियों को परस्पर और सभी को ईश्वर से करुणा और प्रेम के बंधन में बांधे, वही 'रिलीजन' है। व्यक्ति का निम्न-स्तरीय स्वभाव, मन, आत्मा उसे व्यक्ति और ईश्वर से अलग करते रहते हैं, जबकि रिलीजन उसे बार-बार फिर से जोड़ता रहता है। इस तथ्य का सदैव स्मरण ही धर्म का सार है। इसी से मनुष्य के सभी कार्य ठीक व अच्छे हो सकते हैं। इसी से वह शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे बड़ी-बड़ी सभ्यताएं जन्म लेती हैं। संसार में सभी बड़ी सभ्यताओं के पीछे कोई न कोई धर्म या आदर्श अवश्य रहा है, जिसे वे मानती या पूजती रही हैं। प्रत्येक नए धर्म के उद्गम के साथ लोगों की पुरानी भावनाओं में पुनः नई जान आ जाती है और उनमें मिलकर काम करने की इच्छा जागृत होती है तथा प्रत्येक नई सभ्यता का प्रादुर्भाव इसी से हुआ है।

संस्कृत शब्द 'धर्म' 'धृ' धातु से निकला है, जिसका अर्थ भी बांधे या संभाले रखना है। अर्थात् जो अर्थ रिलीजन का है, वही धर्म का है।

समाज में लोगों को बांधे रखना या मिलाए रखना तभी हो सकता है, जब सभी एक-दूसरे को कुछ देते रहें या लेते रहें। इसे ही अधिकार और कर्तव्य का नाम दिया जाता है। एक-दूसरे के प्रति त्याग-भावना इसी में निहित है, बिना इस तरह के त्याग के कोई अपनी छोटी-छोटी जरूरतों को भी पूरा नहीं कर सकता। स्वार्थ भी परमार्थ के सहारे ही चल सकता है। संसार का यही अटल नियम है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

'भगवान ने सृष्टि के आरंभ में यज्ञ से सब प्राणियों को उत्पन्न करके कहा कि इस यज्ञ से ही तुम सब फल-फूल सकते हो। यही वह कामधेनु है, जो तुम्हारी समस्त इच्छाओं को पूर्ण कर सकती है।'

यहां 'यज्ञ' का अर्थ है एक-दूसरे की सेवा, सहायता और एक-दूसरे के लिए त्याग, अर्थात् अपने अकिंचन अस्तित्व को परहित के लिए समर्पित कर देना। इसी तरह समाज भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए यज्ञ करता है। इसीलिए ऐसे आदान-प्रदान को कानून के माध्यम से लागू किया जाता है, यह कानून अधिकारों को कर्तव्यों के माध्यम से व्यवहार में लाया जाता है तथा अधिकारों, कर्तव्यों व व्यक्तियों को परस्पर संबद्ध करता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि वह समाज का एक छोटा-सा अंश है और उसकी आत्मा बड़ी आत्मा का एक अंश है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर का प्रत्येक अंग सारे शरीर का अंग होता है और शरीर के जीवन में उसका जीवन व शरीर की मौत में उसकी मौत अंतर्निहित है। इस एक बात को जान लेना ही सारे धर्म-संप्रदायों का सार है तथा यह ज्ञान भी कि ये सब धर्म भिन्न-भिन्न रूपों में उसी एक बड़े रूप से निसृत हुए हैं और अंततः उसी में मिलने हैं। इस ज्ञान से जो सच्चा बड़प्पन, ऊंचापन, उदारता और शुभाशंसा व्यक्ति में प्रकट होती है, वही ऊंचे-से-ऊंचा धर्म, मजहब या रिलीजन है।

इस्लाम शब्द 'स्लम' से निकला है, जिसका अर्थ है 'शांति'। इस दृष्टि से इस्लाम शब्द ही इस्लाम धर्म का सार है। इसका अर्थ है शांति के साथ ईश्वर के समक्ष झुकना, समर्पित होना, उसकी सब आज्ञाओं को मानना। संस्कृत में इसी को 'प्राणिधान' या 'प्रपत्ति' कहा गया है, अर्थात् अहं भाव नष्ट कर ईश्वर को उसके स्थान पर स्थापित करना। वैदिक कथन है—'न मम किंतु तव ईहा' यानी 'हे ईश्वर, तेरी इच्छा पूरी हो मेरी नहीं।' इस भाव में डूबकर उसी अनुरूप आचरण करते हुए व्यक्ति विश्व में शांति एवं सुख के साथ रह सकता है।

यहां एक प्रश्न उठता है कि कितने व्यक्ति ईश्वर की इच्छा को जान सकते हैं? इसके दो उत्तर हैं, प्रथम यह कि व्यापक आधारभूत-धर्म, वैज्ञानिक-धर्म, आत्म-धर्म, मानव-धर्म या मानवीय धर्म। यह धर्म का वह अंश है, जिसे सभी धर्मों में देखा जा सकता है और यही यह बताता है कि ईश्वर की इच्छा क्या है। द्वितीय यह कि मुख्य रूप में अच्छे और समझदार व्यक्तियों के बनाए हुए अच्छे कानून, क्योंकि ऐसे लोग सभी का हित चाहते हैं तथा सभी का हित करने की भरपूर कोशिश करते हैं, ऐसे लोग सबके हृदय में विराजमान आत्मा को जानते और प्यार करते हैं तथा ऐसे लोगों पर सभी को विश्वास होता है, अतः जहां तक संभव हो, ऐसे लोगों के बनाए हुए कानून ही ईश्वर की इच्छा के अनुरूप हो सकते हैं। ऐसे लोग ही ईश्वर के अत्यधिक निकट हैं और उसके पुत्र कहला सकते हैं। ये जनता या समाज की व्यापक आत्मा 'कुलात्मा' के प्रतिनिधि होते हैं। ऐसे लोगों के बनाए हुए कानून ही जनता का भला कर सकते हैं तथा ऐसे लोगों का शासन ही 'राम-राज' कहला सकता है।

'क्रिश्चियानिटी' शब्द का भी सही अर्थ यही है, जो धर्म का है। 'क्रिस्टास' का अर्थ है, 'ईश्वरीय ज्ञान में नहाया हुआ'। अर्थात् वह जो अपने अकिंचन अस्तित्व को मिटाकर समाज की आत्मा, बड़ी आत्मा या परमात्मा को उसकी जगह स्थापित कर चुका हो।

'वैदिक धर्म' का अर्थ है, ज्ञान का धर्म, समझदारी का धर्म। 'सनातन धर्म' का अर्थ है, हमेशा का धर्म। 'मानव-धर्म' का अर्थ है, सभी मानवों का धर्म, जिसे आजकल योरप में 'ह्यूमनिज्म' कहते हैं। 'बौद्ध धर्म' का अर्थ है, बुद्धि अर्थात् अक्ल का धर्म। 'आर्य धर्म' का अर्थ है, भले लोगों का धर्म। 'मजहब' का अर्थ है, रास्ता, अर्थात् पथ या पंथ, नेकी का रास्ता, सुख-सौख्य का रास्ता।

इस रास्ते पर चलने के लिए व्यक्ति को अपने अंदर से ही प्रकाश मिल सकता है। भागवत में लिखा है—

'प्रकाश व्यक्ति के स्वयं के भीतर ही है और कहीं नहीं, और वह प्रकाश सभी प्राणियों में एक समान है।'

हजरत ईसा ने कहा है—'इस बात को जान लेना कि सब की आत्मा ही मेरी आत्मा है, सचाई को जानना है। अपने समान ही सभी को प्यार करना सही जीवन है तथा सभी के लिए वही करना, जो अपने लिए चाहें, यही धर्म का रास्ता है।'

जापान के पुराने धर्म 'शिनतो' का अर्थ भी 'आत्माओं का रास्ता' है। लाओत्जे ने चीन के धर्म का नाम 'ताओ' रखा। 'ताओ' का अर्थ भी रास्ता है। चीनी शब्द 'ताओ' के भी प्रायः वही अर्थ होते हैं, जो संस्कृत शब्द 'धर्म' के हैं। 'ताओ' और 'वैदिक धर्म' को जानने वालों का यही मत है कि दोनों में गहरी समानता है। 'ताओ' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' भी है।

उपर्युक्त में से किसी भी रास्ते पर विचार करें और उस पर चलें, तो परिणाम एक ही निकलेगा कि धर्म का रास्ता सुख-शांति का रास्ता है, दुख, मौत व डर से छुटकारे का रास्ता है। समाज और संसार की विशाल अनंत आत्मा में अपनी अस्मिता को लीन कर देने का रास्ता है, असीम में ससीम को मिलाने का रास्ता है।

विश्व के सभी धर्मों में तीन भिन्न-भिन्न मार्ग या तरीके मिलते हैं। वैदिक धर्म में इन्हें 'ज्ञान-मार्ग', 'भक्ति-मार्ग' व 'कर्म-मार्ग' कहा गया है। इस्लाम में इन्हें 'मारफत', 'तरीकत' और 'शरीअत' कहा गया है। यही तीन रास्ते ईसाई धर्म में भी हैं। बौद्ध धर्म में इन्हें 'सम्यक् दृष्टि', 'सम्यक् संकल्प' व 'सम्यक् व्यायाम' कहा गया है। जैन तत्त्वार्थ-सूत्र में भी इन्हीं तीनों की चर्चा है। सूफी ग्रंथ 'गुलशने राज' में इन तीनों रास्तों को भली प्रकार समझाते हुए यह भी कहा गया है कि ये तीनों रास्ते कुफ्र और इस्लाम दोनों में एक बराबर हैं।

इसी प्रकार महाभारत में उल्लेख है—

'अपनी जिह्वा, मन और शरीर को जो अपनी बुद्धि से वश में रखे, वही त्रिदंडी है।'

बौद्ध ग्रंथ 'धम्मपद' में भी 'भिक्षु' की ठीक यही विशेषता बताते हुए इसी को 'साधुपन' कहा गया है। व्यक्ति के स्वभाव के ये तीन प्रमुख अंग हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इसी के अनुरूप सभी धर्मों में तीन रास्ते बताए गए हैं—ठीक जानना, ठीक चाहना और ठीक आचरण करना। पारसी धर्म में इन्हें थोड़ा-सा परिवर्तित करके 'हुस्त', 'हुख्त' व 'हुवर्श्त' नाम दिए गए हैं, जिनका अर्थ है— ठीक सोचना,

ठीक बोलना और ठीक व्यवहार में लेना। उपनिषदों में भी यही विचार बार-बार आया है। महाभारत में भी यही बात बार-बार दोहराई गई है। जेंदअवस्ता में लिखा है—

'अहुरमज्द यानी ईश्वर कहता है कि जो लोग भलाई सोचते, कहते और करते हैं, मैं उनके साथ रहता हूं तथा उनके नहीं, जो बुराई सोचते, कहते और करते हैं।'

यही तीन बिंदु विश्व की प्रत्येक सभ्यता में होते हैं। पहला विज्ञान, ज्ञान व विद्या का, दूसरा लोगों की इच्छाओं, उनके आदर्शों, उनके शौक व भावों का और तीसरा उनके रहन-सहन, व्यवहार व काम का। किसी भी सभ्यता का ज्ञान-भंडार जितना बड़ा, जितना वैविध्यपूर्ण, ठीक व सच्चा होगा, वहां के लोगों के भाव, शौक व आदर्श जितने सुंदर, ऊंचे और उत्तम होंगे, उनका रहन-सहन जितना पवित्र, मानवीयता के सिद्धांतों के अनुकूल, उदार व कल्याणकारी होगा, वह सभ्यता उतनी ही ऊंची और श्रेष्ठ समझी जाएगी। इस प्रकार किसी भी सभ्यता की उन्नति धर्म के इन नीति-निर्धारक तीनों बिंदुओं के समन्वयपूर्वक आचरण पर ही अवलंबित रहती है।

संसार के गुरुओं, अध्यापकों व शिक्षकों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे सदैव ध्यान रखें कि उनके विद्यार्थियों की आत्मा, शरीर व बुद्धि का समान रूप में विकास हो। वही शिक्षा अच्छी होती है, जो विद्यार्थी के मस्तिष्क को सच्चे और उपयोगी ज्ञान से परिपूर्ण करे, उसकी आत्मा को उन्नत करे और संयमपूर्वक रहना सिखलाए। उसे भला, परोपकारी व परिश्रमी बनाए, जिससे मस्तिष्क, हृदय व शरीर तीनों सुंदर दिखाई दें। इस हेतु विज्ञान की शिक्षा, मानव-धर्म की शिक्षा तथा उच्चकोटि की हस्तकलाओं व धंधे की शिक्षा बहुत आवश्यक है।

वर्तमान में योरप के विकसित देशों में यह बात महत्त्वपूर्ण हो गई है कि किस विद्यार्थी में किस कक्षा के उपयुक्त योग्यता व समझ है। इसे वहां विविध प्रकार से जांचा जाता है, किंतु अभी उन लोगों का ध्यान इस ओर नहीं जा पाया है कि प्रत्येक विद्यार्थी के स्वभाव को भी समझने का प्रयत्न किया जाए। वे लोग विद्यार्थी के ज्ञान को बढ़ाने के बिंदु पर ही अधिक ध्यान देते हैं, जबकि किसी विद्यार्थी में ज्ञान, इच्छा या आचरण का कौन-सा भाव प्रबल है, इसे समझे बिना समाज में किसी लड़के-लड़की को उचित जगह दे पाना संभव नहीं है। इसके अभाव में उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास संभव नहीं है, जिससे वह समाज को पूरा लाभ नहीं पहुंचा पाएगा। जैसे वैद्य या डॉक्टर के लिए यह जरूरी है कि वह अपने मरीज के विकार को अच्छी तरह समझ कर निर्णय करे कि उसके भीतर वात, पित्त व कफ में से किसे बढ़ाने व किसे दबाने का प्रयत्न करे, वैसे ही धर्मगुरुओं का कर्तव्य है कि वे अपने लोगों की अलग-अलग प्रकृति को समझकर उन्हें ज्ञान, भक्ति व कर्म की ओर प्रवृत्त करें तथा विश्वभर के शिक्षकों को चाहिए कि वे अपने विद्यार्थियों के अलग-अलग स्वभाव को समझकर उन्हें मानवता की शिक्षा दें, कला-संस्कृति के उन्नयन की शिक्षा के साथ-साथ उच्चकोटि की हस्तकलाओं का ज्ञान कराएं और उन्हें उन्नतिशील बनाएं। यही मानव-धर्म अर्थात् मनुष्यता का मार्ग है।

भाषांतर : **डॉ. मदन सैनी**

❖

विनम्रता

पत्थर ने फूल से कहा—मैं तुम्हें कुचल दूंगा। पुष्प ने उत्तर दिया—अच्छा, अच्छा। तुम मेरी सुगंध को वातावरण में फैलाकर मेरे पर अनंत उपकार करोगे।

उत्तर सुन पत्थर का अहंकार विलीन हो गया। अहंकार तब तक ही ज्वलित ईंधन वाला होता है जब तक विनम्रता के जल का सिंचन नहीं होता।

—'सुप्रभातम्' से

अनासक्त कर्म

कृष्ण कहते हैं—'अर्जुन, मेरी ओर देखो! यदि पल के लिए मैं कर्म करना बंद कर दूं, तो यह ब्रह्मांड विच्छिन्न हो जाए। फिर भी ब्रह्मांड से मुझे कुछ मिलने को नहीं। मैं एकमात्र स्वामी हूं; कर्म से मुझे कोई लाभ नहीं। परंतु मैं कर्म क्यों करता हूं? इसलिए कि मैं संसार को प्यार करता हूं।' ईश्वर अनासक्त है, इसलिए कि वह प्यार करता है; उस प्रकार का सच्चा प्यार हमें अनासक्त बनाता है। जहां केवल सांसारिक आसक्ति, सांसारिक वस्तुओं के प्रति भयानक आकर्षण है, वहां समझ लेना चाहिए कि वह सब दैहिक है, एक प्रकार का विभिन्न परमाणु-विभागों के बीच पारस्परिक आकर्षण-प्रत्याकर्षण, जो कि नितांत स्थूल है, उन्हें आपस में मिलने के लिए आकुल करता है; यदि वे काफी एक दूसरे के नजदीक नहीं आ पाते तो उन्हें पीड़ा होती है। परंतु जहां सच्चा प्रेम होता है, वहां दैहिक मिलन की अपेक्षा नहीं रहती। प्रेमी एक-दूसरे से सहस्रों कोसों की दूरी पर हों, परंतु उनका प्रेम वैसा ही होगा। वह अमर है; उससे कोई भी दुख देने वाली प्रतिक्रिया न होगी।

यह अनासक्ति पाना प्रायः एक जीवन का कार्य है; परंतु इस सीमा तक आते ही प्रेम के लक्ष्य तक हम पहुंच जाते हैं और स्वतंत्र हो जाते हैं। प्रकृति-बंधन टूट जाते हैं और प्रकृति को हम उसके वास्तविक रूप में देख लेते हैं। प्रकृति हमारे लिए और जंजीरें नहीं गढ़ सकती। हम स्वतंत्र हो कर्मों के परिणामों से परे हो जाते हैं। कर्म-फल की उस समय किसे चिंता हो सकती है? प्रेम और स्वतंत्रता के लिए कार्य करने वाले पुरुष को फल की चिंता करने की आवश्यकता नहीं; वह स्वयं निःस्वार्थ है, अतः कर्म के किसी फल से उसे दुख नहीं हो सकता।

अपने बच्चों को कोई कुछ देकर उनसे बदले में क्या मांगता है? मनुष्य का कर्तव्य है कि उनका भरण-पोषण करे, और वहीं उस बात का अंत हो जाता है। जो कुछ भी तुम किसी व्यक्ति-विशेष, जाति अथवा देश के लिए करना चाहते हो, अवश्य करो, किंतु उनके प्रति अपनी वैसी ही धारणा रखो, जैसी तुम्हारी तुम्हारे बच्चों के प्रति है; बदले में कुछ न चाहो। यदि तुम निरंतर दानी के आसन पर बैठ सकते हो, जहां से तुम्हारी प्रत्येक वस्तु संसार के लिए स्वतंत्र भेंट है, बिना किसी प्रत्युपकार के विचार के, तब तुम्हारा कर्म आसक्ति द्वारा तुम्हें न बांध सकेगा। आसक्ति वहीं होती है जहां कृत कर्म के लिए हम बदले में कुछ चाहते हैं।

यदि दास की भांति कर्म करने से कर्मफल में आसक्ति और स्वार्थ-वांछा होती है, तो अपने मन के बादशाह होकर काम करने से अनासक्ति का आनंद मिलता है। हम लोग बहुधा न्याय और सत्य के विषय में बातचीत करते हैं, परंतु संसार में इनका महत्त्व ऐसा है, जैसा बच्चों की बातों का। मनुष्य को कर्म करने के लिए दो बातें वस्तुतः प्रेरित करती हैं; वे दया और शक्ति हैं। शक्ति का व्यवहार अवश्य ही स्वार्थ का व्यवहार है। सभी स्त्री-पुरुष जो भी शक्ति अथवा बड़प्पन उनके पास है, उसे और भी बड़ा कर दिखाने की चेष्टा करते हैं। दया तो स्वर्ग ही है, अच्छे होने के लिए हम सबको दयालु होना पड़ेगा। न्याय, शक्ति और सत्य तक दया पर निर्भर रह सकते हैं। कर्मफल की प्रत्याशा हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होती है। अंत में उससे दुख भी मिलता है। उसी कर्म का फल बंधन नहीं हो सकता जो प्रकृति एवं मनुष्य जाति के प्रति निःस्वार्थ होकर किया जाता है। इस दया और त्याग के विचार को कार्य-रूप में परिणत करने का एक और ढंग है, कर्म को उपासना समझकर, यदि हम एक व्यक्तिगत ईश्वर में विश्वास करते हों। यहां हम अपने कर्मों के फल अपने उपास्यदेव को अर्पण करते हैं; उसकी उपासना करते हुए मनुष्य के लिए किए कर्मों का प्रतिफल मांगने का हमें अधिकार नहीं। ईश्वर स्वयं अविरत कर्म करता है, और बिना आसक्ति के। जिस प्रकार जल से कमल-दल नहीं भीगता, उसी प्रकार निःस्वार्थ पुरुष कर्मफल की प्रत्याशा से नहीं बांधा जाता। अनासक्त और स्वार्थहीन व्यक्ति किसी भी जनाकीर्ण पाप के केंद्र नगर में प्रवेश करे, परंतु पाप की कालिमा उसे स्पर्श न कर सकेगी।

—स्वामी विवेकानन्द

अनुभूति

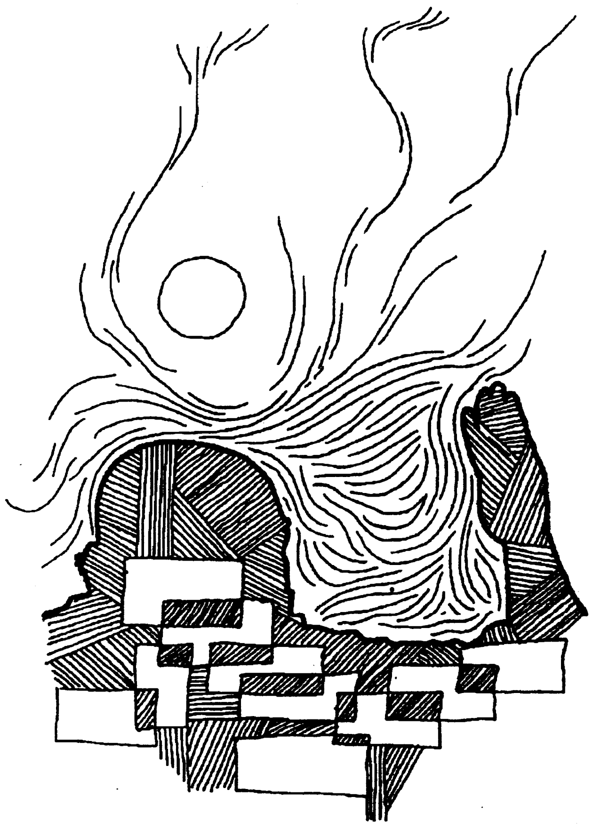

बर्बर की प्रार्थना

झुर्रियों भरे, बेलौस पत्थर
ज्योति–मां चट्टान,
वापस मुझे ले लो अपने गर्भ में।
पैदा हुआ यह पहली भूल थी;
संसार वही था जैसा मैंने चाहा था:
बाघ और वृक्षमूल, एकमेक;
स्नेहिल पशु और हंसती हुई बर्फ;
हवा की, शिखरों की चेतना
काजल की बूंद टपकाती हुई—
और यह मैं, एक दिग्भ्रमित आदमी,
सूने पथ का स्वामी,
राख–नक्षत्र का वजूद,
और अपने भीतर मैंने जो भी कुछ जोड़ा
वही मुझे कर गया चाक
क्योंकि क्षणभंगुर है और सिर्फ लालसा
बढ़ती है इनसे...

झुर्रियों भरे, बेलौस पत्थर,
ज्योति–मां चट्टान,
मैं तुम्हारे गर्भगृह के द्वार पर हूं।

—शांदोर चाओरी (हंगारी कवि)
अनुवाद : गिरधर राठी

ब्रह्मचर्य और शरीर रचना

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियंत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियंत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है। पर यह प्रथम उपाय नहीं है। प्रथम है ब्रह्मचर्य के प्रति गाढ़ श्रद्धा होना। दूसरा है वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोड़ने की साधना। इससे ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है, उतना नियंत्रण-शक्ति से नहीं।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग में प्रारंभ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे वैसे ही उस स्थान में मन को एकाग्र कर कोई शुभ संकल्प किया जाए, जिससे वह उभार शांत हो जाए।

शरीर-शास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रंथियां होती हैं : 1. श्लैष्मिक या पीयूष (पिच्यूटरी), 2. कंठमणि (थाइरायड), 3. वृषण, 4. सर्वकिण्वी (पैनक्रिया), 5. एड्रीनल या सुप्रारीनल, 6. पैराथाइरायड, 7. तृतीय नेत्र (पीनियल बाडी), 8. यौवन लुप्त (थाइमस)।

पीयूष ग्रंथि

यह ग्रंथि दिमाग के नीचे होती है। यह थाइरायड, पैराथाइरायड, एड्रीनल, पैनक्रिया और वृषण कोषों के स्रावों को नियंत्रित करती है। इस ग्रंथि के रसों का कार्य इस प्रकार है: प्रथम रस का कार्य—शरीर-विकास। द्वितीय रस का कार्य—शरीर के जल तथा नमक का संतुलन। तृतीय रस का कार्य—गुर्दे के कार्य का नियंत्रण।

पीयूष ग्रंथि काम कम करे तो काम-शक्ति नष्ट हो जाती है।

कंठमणि ग्रंथि

यह गर्दन में श्वास नली से जुड़ी हुई होती है। इसका आकार तितली के समान होता है। इसका रस-स्राव अधिक होने पर शरीर को अधिक पोषण की जरूरत होती है। क्षुधा बढ़ जाती है। किंतु अन्य अंग साथ नहीं देते इसलिए वह कमी पूरी नहीं होती। ऐसी स्थिति में दुर्बलता आ जाती है। इस ग्रंथि से रस कम निकले तो बुढ़ापा आ जाता है। सर्दी अधिक लगती है, भूख कम हो जाती है, शिथिलता और उदासी रहती है।

वृषण ग्रंथि

यह पुरुष के ही होती है। यह अंडकोषों में होती है। इसके रस-स्राव से पौरुष जागता है और दाढ़ी-मूंछें आती हैं।

पैनक्रिया ग्रंथि

यह दो आंतों के बीच में होती है।

एड्रीनल या सुप्रारीनल ग्रंथि

ये दोनों ग्रंथियां गुर्दे के ऊपरी हिस्से में होती हैं। इनके स्राव शरीर के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। इनसे साहस मिलता है। ये स्राव यकृत की चीनी को रक्त के द्वारा मांसपेशियों में ले जाते हैं। वह मांसपेशियों को जूझने की शक्ति देती है।

पैराथाइरायड ग्रंथि

कंठमणि के पास गेहूं के दाने के बराबर चार ग्रंथियां होती हैं। इन्हें पैराथाइरायड कहा जाता है। ये रक्त में कैलशियम, फासफोरस आदि का उचित संतुलन बनाए रखती हैं।

तृतीय नेत्र ग्रंथि

यह मस्तिष्क में होती है।

यौवन लुप्त ग्रंथि

यह सीने में होती है। इनका कार्य अज्ञात है।

प्रस्तुत विषय का संबंध वृषण-ग्रंथियों से है।

वीर्य की उत्पत्ति और धाराएं

वृषण ग्रंथियां दो स्राव उत्पन्न करती हैं—बहिःस्राव और अंतःस्राव। धमनियों द्वारा वृषण-ग्रंथियों में रस-रक्त आता है। उसे प्राप्त कर दोनों स्रावों के उत्पादक अवयव अपने-अपने स्राव को उत्पन्न करते हैं।

वीर्य अंडकोष में उत्पन्न होता है। उसकी दो धाराएं हैं। एक वीर्याशय—जो मूत्राशय और मलाशय के मध्य में है—में जाती है। दूसरी रक्त के साथ मिलकर शरीर में दीप्ति, मस्तिष्क में शक्ति, उत्साह आदि पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त में अधिक जाती है। यह स्थिति शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद है। वीर्याशय खाली होता रहे तो वीर्य पहली धारा में इतना चला जाता है कि दूसरी को वह पर्याप्त रूप से मिल ही नहीं पाता। फलतः दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है। वीर्याशय खाली न हो, इसका ध्यान रखना स्वास्थ्य का प्रथम प्रश्न है।

वीर्य और ओज

जीवन के दस स्थान हैं :

1. मूर्धा, 2. कंठ, 3. हृदय, 4. नाभि, 5. गुदा, 6. वस्ति, 7. ओज, 8. शुक्र, 9. शोणित, 10. मांस

ये दस स्थान दूसरे प्रकार से भी मिलते हैं :

1-2 : दो शंख—पटपड़ियां। 3-4-5 : तीन मर्म—हृदय, वस्ति और सिर। 6. कंठ। 7. रक्त। 8. शुक्र। 9. ओज। 10. गुदा।

ओज इन दोनों प्रकारों में हैं। वह वीर्य (धातु) का अंतिम सार नहीं है, किंतु सातों धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का अंतिम सार है। उसका केंद्र-स्थान हृदय है, फिर भी वह व्यापी है—

ओजस्तु तेजो धातूनां, शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थिति निबंधनम्।।

—शुश्रुतः 11।37।।

इससे दो बातें निरापन्न होती हैं :

1. ओज का संबंध केवल वीर्य से नहीं है।

2. वीर्य का स्थान अंडकोष है, जबकि ओज का स्थान हृदय है।

ओज और वीर्य में तीसरा अंतर यह है कि वीर्य का मध्यम परिमाण ही लाभप्रद होता है। वह हीन-मात्रा में हो तो क्षीणता आदि दोष बढ़ते हैं। वह अति-मात्रा में हो तो उससे मैथुन की प्रबल इच्छा और शुक्राश्मरी (शुक्रजनित पथरी) रोग उत्पन्न होता है—

अंतिस्त्रीकामतां वृद्धं, शुक्रं शुक्राश्मरीमपि।

शुश्रुतः 11।12।।

ओज जितना बढ़े उतना ही लाभप्रद है। उसकी वृद्धि से मन की तुष्टि, शरीर की पुष्टि और बल का उदय होता है—

ओजो वृद्धौ हि देहस्य, तुष्टिपुष्टि बलोदयः।।

—शुश्रुतः 12।41।।

वीर्य-व्यय के मार्ग

वीर्य-व्यय के दो मार्ग हैं—जननेंद्रिय और मस्तिष्क। भोगी तथा रोगी व्यक्ति के काम-वासना की उद्दीप्ति तथा वायु-विकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेंद्रिय से होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड़ देते हैं। अतः उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क में होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होने से काम-वासना बढ़ती है और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होने से काम-वासना घटती है।

अब्रह्मचर्य का प्रभाव

काम-वासना के कारण जननेंद्रिय द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य का ही एक प्रकार है। वह सीमित होता है तो उसका शरीर पर अधिक हानिकर प्रभाव नहीं होता। मन में मोह और संस्कारों में अशुद्धि उत्पन्न होती है, इसे आध्यात्मिक दृष्टि से हानि ही कहा जाएगा।

जो आदमी अब्रह्मचर्य में अति आसक्त होता है, उसकी वृषण-ग्रंथियों में आने वाले रस-रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव कर लेते हैं। इसका फल यह होता है कि अंतःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव उचित सामग्री के अभाव में अपना काम करने में अक्षम रह जाते हैं। फलतः सर्वधातुओं और सर्वांग पर होने वाले अंतःस्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावों से वह वंचित रह जाता है और अनेक प्रकार के विकार उसके शरीर में उत्पन्न होते हैं।

आयुर्वेद के ग्रंथों में इस विषय को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। 'सात क्यारियों में सातवीं क्यारी में

बड़ा गर्त हो किंवा उसमें से जल के निकलने के लिए छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले संपूर्ण जल उस गड्ढे में भरने लगेगा या उस क्यारी को पूर्ण करने में व्यय होगा। यही स्थिति अति मैथुन आदि के कारण होने वाले शुक्रक्षय में होती है। निश्चित ही संपूर्ण रस प्रथम शुक्र-धातु की पुष्टि में लगता है परंतु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो ही नहीं पाता। परिणामतया अन्य धातुओं की पुष्टि रस से हो नहीं पाती और शरीर में विभिन्न विकार उत्पन्न हो जाते हैं।'

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

ब्रह्मचर्य से इंद्रिय-विजय और इंद्रिय-विजय से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। वस्तुतः इंद्रिय-विजय और ब्रह्मचर्य दो नहीं हैं। ब्रह्मचर्य की इंद्रिय-विजय से एकात्मकता है, इसलिए उससे शरीर की स्थिरता, मन की स्थिरता और अनुद्विग्नता, अदम्य उत्साह, प्रबल सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण विकसित होते हैं।

ब्रह्मचर्य से हमारे स्थूल अवयव उतने प्रभावित नहीं होते, जितने सूक्ष्म अवयव होते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि पूर्व ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नहीं होता। इस मत में सच्चाई का अंश भी है पर उसी स्थिति में जब ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति में हो। चिंतन के प्रवाह को काम-वासना की लहरों से मोड़कर अन्य उदात्त भावनाओं की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्वशता की परिस्थिति में विकास पाता है। वह शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर बड़ा लाभदायी प्रभाव डालता है।

ब्रह्मचर्य की भावना क्यों?

बहुत सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, फिर भी नहीं कर पाते, ऐसा क्यों होता है? अब्रह्मचर्य की भावना सहज ही क्यों उभर आती है? इस प्रश्न का उत्तर कर्म-शास्त्रीय भाषा में यह है कि यह सब मोह के कारण होता है, पर शरीर-शास्त्र की भाषा में कर्म का स्थान नहीं है। उसके अनुसार काम-वाहिनी नाड़ियों में रक्त का संचरण होने से अब्रह्मचर्य की भावना उभरती है। उसका संचरण नहीं होता तो वह भावना नहीं उभरती, कम हो तो कम और अधिक हो तो अधिक। इस संदर्भ में हम उस तथ्य की ओर संकेत कर सकते हैं कि ब्रह्मचारी के लिए गरिष्ठ या दर्पक आहार का निषेध क्यों किया गया?

ब्रह्मचर्य के उपाय

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियंत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियंत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है। पर यह प्रथम उपाय नहीं है। प्रथम है ब्रह्मचर्य के प्रति गाढ़ श्रद्धा होना। दूसरा है वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोड़ने की साधना। इससे ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है, उतना नियंत्रण-शक्ति से नहीं।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग में प्रारंभ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे वैसे ही उस स्थान में मन को एकाग्र कर कोई शुभ संकल्प किया जाए, जिससे वह उभार शांत हो जाए।

पेट में मल, मूत्र और वायु का दबाव बढ़ने से काम-वाहिनी नाड़ियां उत्तेजित होती हैं। खान-पान और मल-शुद्धि में सजग रहना ब्रह्मचर्य की बहुत बड़ी शर्त है। वायु-विकार न बढ़े, इस ओर ध्यान देना भी बहुत ही आवश्यक है।

काम-जनक अवयवों के स्पर्श से भी वासना बहुत उत्तेजित होती है। इन सारी बातों का ब्रह्मचर्य के परिपार्श्व में बहुत महत्त्व है पर इस सबसे जिसका अधिक महत्त्व है, वह है वीर्य या रक्त-प्रवाह को मोड़ने की प्रक्रिया। उसकी कुछ विधियां इस प्रकार हैं—

ऊर्ध्वाकर्षण

(क) सिद्धासन में बैठें। श्वास का रेचन करें—बाहर निकालें। बाह्य-कुंभक करें—श्वास को बाहर रोके हुए रहें। इस स्थिति में संकल्प करें—वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में घूम रहा है। वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर हो रहा है।

संकल्प इतनी तन्मयता से करें कि वैसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे। जितनी देर सुविधा से कर सकें, यह संकल्प करें, फिर पूरक करें—श्वास को अंदर भरें। पूरक की स्थिति में मूल बंध करें—गुदा को ऊपर की ओर खींचें तथा जालंधर बंध करें—ठुड्डी को तानकर कंठ-कूप में लगाएं। फिर पेट को सिकोड़ें और फुलाएं। आराम से जितनी बार ऐसा कर सकें—करें, फिर रेचन करें। यह एक क्रिया हुई। इस अभ्यास को बढ़ाते-बढ़ाते सात या नौ बार दोहराएं।

(ख) पीठ के बल चित लेट जाएं। सिर, गर्दन और छाती को सीध में रखें। शरीर को बिल्कुल शिथिल करें। मुंह को बंद कर पूरक करें। पूरक करते समय यह संकल्प करें कि काम-शक्ति का प्रवाह जननेंद्रिय से मुड़ मस्तिष्क की ओर जा रहा है। मानसिक चक्षु से यह देखें कि वीर्य रक्त के साथ ऊपर जा रहा है। काम-वाहिनी (जननेंद्रिय के आस-पास की) नाड़ियां हल्की हो रही हैं और मस्तिष्क की नाड़ियां भारी हो रही हैं।

पूरक के बाद अंतःकुंभक करें—श्वास को सुखपूर्वक अंदर रोके रहें। फिर धीमे-धीमे रेचन करें।

पूरक और रेचन का समय समान और कुंभक का समय उससे आधा होना चाहिए।

यह क्रिया बढ़ाते-बढ़ाते पंद्रह-बीस बार तक करनी चाहिए। वीर्य के ऊर्ध्वारोहण का संकल्प जितना दृढ़ और स्पष्ट होगा, उतनी ही कामवासना कम होती जाएगी।

कुक्कुटासन

इससे कामवाहिनी स्नायुओं पर दबाव पड़ता है। उससे मन शक्तिशाली और प्रशांत होता है, काम-वासना क्षीण होती है।

मन की स्थिरता होने से वायु की स्थिरता होती है। वायु की स्थिरता से वीर्य की स्थिरता होती है। वीर्य की स्थिरता से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है। कहा भी है—

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुः, ततो बिंदु स्थरो भवेत्।
बिंदुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं, पिंडस्थैर्यं च जायते।।

ऊर्ध्वाकर्षण की प्रक्रिया केवल पुरुषों के लिए है। स्त्रियों के लिए संकल्प-शुद्धि का अभ्यास सहायक हो सकता है।

❖

ईर्ष्या का फल

एक गांव में एक बुढ़िया रहती थी। वह गोबर थाप-थापकर अपना गुजर करती थी। एक बार उसने किसी व्यंतर देव की आराधना की। देव उसकी भक्ति से संतुष्ट हुआ। वह प्रकट हुआ। उसने बुढ़िया से वर मांगने को कहा। बुढ़िया होशियार थी। उसने सोचा, अवसर को हाथ से नहीं जाने देना चाहिए। उसने कहा—'यदि आप मुझ पर संतुष्ट हैं तो मेरे गोबर के सारे उपले रत्न बन जाएं।' देव की शक्ति अपरिमित होती है। देवता ने कहा—'तथास्तु।' सारे उपले रत्न बन गए। बुढ़िया धनवान बन गई। उसने चार कोठों वाला एक सुंदर भवन बनवाया। अनेक दास-दासी रहने लगे। वह सुख से जीवन बिताने लगी।

एक दिन बुढ़िया के घर उसकी एक पड़ोसिन आई। उसके घर की सज-धज को देख उसे विस्मय हुआ। वह बुढ़िया से मीठी-मीठी बातें करने लगी। बातों ही बातों में उसने जान लिया कि बुढ़िया इतनी जल्दी कैसे धनी बन गई। बस उसने भी व्यंतर देव की आराधना शुरू कर दी। भक्ति-भाव से उसने व्यंतर देव को रिझा लिया। देव प्रसन्न होकर उपस्थित हुआ और उससे वर मांगने को कहा। पड़ोसिन ने अवसर का लाभ उठाना चाहा। ईर्ष्या तो थी ही। उसने कहा—'मैं चाहती हूं कि जो वस्तु तुम बुढ़िया को दो वह मेरे दुगुनी हो जाए।'

वही हुआ। जो वस्तु बुढ़िया मांगती उसके घर दुगुनी हो जाती। बुढ़िया के चार कोठों वाला एक मकान था तो पड़ोसिन के चार कोठों वाले दो मकान थे। बुढ़िया के चार घोड़े और आठ बैल थे तो उसके आठ घोड़े और सोलह बैल थे। इसी प्रकार उसके घर सारी चीजें दुगुनी थीं।

बुढ़िया को जब इस बात का पता लगा तो वह बहुत कुढ़ी। वह पड़ोसिन के इस व्यवहार को सहन नहीं कर सकी। उसने व्यंतर देव से वरदान मांगा कि उसके चार कोठों वाला घर गिर पड़े और उसके स्थान पर एक घास की झोंपड़ी बन जाए। वैसा ही हुआ। उसकी पड़ोसिन के दोनों घर गिर पड़े और उनके स्थान पर घास की दो झोंपड़ियां बन गईं।

तत्पश्चात् बुढ़िया ने दूसरा वर मांगा कि उसकी एक आंख फूट जाय। पड़ोसिन की दोनों आंखें फूट गईं। तत्पश्चात् बुढ़िया ने कहा—'मैं एक हाथ से लूली और एक पांव से लंगड़ी हो जाऊं।' ऐसा ही हुआ। पड़ोसिन के दोनों हाथ-पैर टूट गए।

बुढ़िया तो ज्यों-त्यों अपना काम चला लेती। किंतु पड़ोसिन बेचारी अपंग हो चुकी थी। वह पड़ी-पड़ी सोचती कि यह सारा असंतोष का फल है। यदि मैं बुढ़िया के धन को देखकर ईर्ष्या न करती तो मेरी यह दशा नहीं होती।

—मुनि दुलहराज

जैन-योग

आचार्यश्री तुलसी

हमारी सारी चंचलता का मूल शरीर है, वाणी और मन की चंचलता उसी पर निर्भर है। जैन-आचार्यों का अभिमत है कि शरीर की प्रवृत्ति निरुद्ध होने पर वाणी और मन की प्रवृत्ति अपने-आप निरुद्ध हो जाती है। वाणी और मन की प्रेरक सामग्री का संग्रहण शरीर की प्रवृत्ति से होता है। उनके निरुद्ध हो जाने पर वे प्रेरक तत्त्व से विहीन होकर निष्क्रिय हो जाते हैं। शरीर, वाणी और मन की निष्क्रियता ही कायोत्सर्ग है।

जैन-तत्त्व-विद्या के अनुसार इस जगत में मूल तत्त्व दो हैं—आत्मा और अनात्मा। जिस प्रकार खान में स्वर्ण अशुद्ध रूप में होता है और समुचित उपायों से वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार संसारस्थ आत्मा अशुद्ध (वैभाविक रूप में स्थित) होती है और समुचित उपायों से शुद्ध (स्वाभाविक रूप में स्थित) हो जाती है। आत्मा को अशुद्ध से शुद्ध बनाने के लिए जिन उपायों का आलंबन लिया जाता है, उसका नाम साधना है।

साधना का प्रयोजन

आत्मा के स्वाभाविक रूप की व्याख्या निम्न आठ गुणों के माध्यम से होती है : 1. अनावृत ज्ञान, 2. अनावृत दर्शन, 3. निराबाध आनंद, 4. सम्यक्त्व और पवित्रता, 5. अचल अवगाहन, 6. अमूर्तता, 7. अगुरुलघु, 8. निरंतरायता।

जिसमें ये गुण प्राप्त होते हैं—वह आत्मा है। हमारे समक्ष जो आत्माएं हैं, उनका यह स्वरूप साध्य है, सिद्ध नहीं है। इसलिए उसके तीन प्रकार किए गए हैं : 1. बहिर् आत्मा, 2. अंतर् आत्मा, 3. परम आत्मा।

जिस व्यक्ति में आत्मा और अनात्मा का विवेक नहीं है, वह बहिर् आत्मा है। जिस व्यक्ति में आत्मा और अनात्मा का विवेक है और जो समुचित उपायों का आलंबन लेता है, वह अंतर् आत्मा है। जो समुचित उपायों के द्वारा स्वाभाविक रूप में स्थित हो जाता है, वह परम आत्मा है। आत्मा की इन तीन अवस्थाओं में बहिर् आत्मा हेय है। अंतर् आत्मा उपाय है। इसी का नाम साधना, मोक्ष-मार्ग या योग है। परम आत्मा उपेय है। यही साधना का प्रयोजन है।

साधना के अंग

साधना के चार अंग हैं :

1. ज्ञान : आत्मा की अनुभूति या अविस्मृति, 2. दर्शन : आत्मा का साक्षात्कार, 3. चारित्र : आत्म-रमण, 4. तप : आत्म-संयम।

प्रथम कक्षा : अणुव्रत की आराधना। वे पांच हैं : 1. अहिंसा-अणुव्रत, 2. सत्य-अणुव्रत, 3. अचौर्य-अणुव्रत, 4. स्वदार संतोष-अणुव्रत, 5. इच्छा-परिमाण-अणुव्रत।

द्वितीय कक्षा : महाव्रत की आराधना। वे भी पांच हैं : 1. अहिंसा-महाव्रत, 2. सत्य-महाव्रत, 3. अचौर्य-महाव्रत, 4. ब्रह्मचर्य-महाव्रत, 5. अपरिग्रह-महाव्रत।

तृतीय कक्षा : वीतरागता की उपलब्धि। ये दस हैं : 1. आहार-विजय 2. निद्रा-विजय, 3. आसन-विजय, 4. प्रतिसंलीनता, 5. प्रायश्चित्त, 6. विनय, 7. सेवा, 8. स्वाध्याय, 9. कायोत्सर्ग, 10. ध्यान।

आहार-विजय

प्रथम कक्षा : कम खाना, कम बार खाना, कम मात्रा में खाना। द्वितीय कक्षा : रस-परित्याग, स्वाद-विजय। तृतीय कक्षा : यथाशक्ति आहार-परित्याग।

निद्रा-विजय

प्रथम कक्षा : दिन में न सोना। द्वितीय कक्षा : रात में एक पहर न सोना। तृतीय कक्षा : रात में दो पहर न सोना। चतुर्थ कक्षा : रात में तीन पहर न सोना।

आसन-विजय

आसन तीन प्रकार के होते हैं : 1. उत्थित-आसन : ये खड़े होकर किए जाते हैं। 2. निषण्ण-आसन : ये बैठकर किए जाते हैं। 3. शयन-आसन : ये सो कर किए जाते हैं। इसकी प्रथम कक्षा : अड़तालीस मिनट तक आसन करना। द्वितीय कक्षा : दो घंटे तक आसन करना। तृतीय कक्षा : तीन घंटे तक आसन करना। चतुर्थ कक्षा : एक दिन या रात तक आसन करना। एक दिन-रात तक तथा यथाशक्ति अनेक दिन-रात तक।

प्रतिसंलीनता

1. इंद्रिय प्रतिसंलीनता : इंद्रिय संयम। 2. मनः प्रतिसंलीनता : मनः संयम। 3. कषाय प्रतिसंलीनता : कषाय संयम। 4. उपकरण प्रतिसंलीनता : उपकरण संयम।

इंद्रिय प्रतिसंलीनता की प्रथम कक्षा : इंद्रियों को अपने-अपने गोलकों में लीन करने का अभ्यास। विषयों से संपर्क स्थापित करने का अभ्यास। द्वितीय कक्षा : विषयों का द्रष्टा मात्र रहने व उनमें लीन न होने का अभ्यास।

इंद्रियां पांच हैं : स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

मनः प्रतिसंलीनता की प्रथम कक्षा : मन को अपने स्वरूप में लीन करने का अभ्यास। द्वितीय कक्षा : विषयों का द्रष्टा मात्र रहने तथा उनमें लीन न होने का अभ्यास।

कषाय प्रतिसंलीनता की प्रथम कक्षा : कषाय को विफल करने का अभ्यास। द्वितीय कक्षा : कषाय न करने का अभ्यास। कषाय चार हैं : क्रोध, मान, माया और लोभ।

उपकरण प्रतिसंलीनता की प्रथम कक्षा : बाह्य सामग्री के प्रति मूर्च्छा का त्याग। द्वितीय कक्षा : बाह्य सामग्री का अल्पीकरण या त्याग।

प्रायश्चित्त

प्रथम कक्षा : मानसिक ग्रंथियों का विश्लेषण।

द्वितीय कक्षा : मानसिक ग्रंथियों का निरसन।

विनय

सत्य के प्रति विनम्र होना।

सेवा

सत्य के प्रति समर्पित होना।

स्वाध्याय

प्रथम कक्षा : अध्ययन, द्वितीय कक्षा : प्रश्न, तृतीय कक्षा : अनुस्मरण, चतुर्थ कक्षा : अनुचिंतन, पांचवीं कक्षा : चर्चा।

कायोत्सर्ग

प्रथम कक्षा : काया की चंचलता का विसर्जन। द्वितीय कक्षा : ममत्व का विसर्जन।

कायोत्सर्ग की मात्रा श्वासोच्छ्वास के द्वारा निर्धारित की जाती है। उसका अभ्यास-क्रम इस प्रकार है :

कायोत्सर्ग	**मात्रा**
1. कायोत्सर्ग	25 श्वासोच्छ्वास।
2. कायोत्सर्ग	100 श्वासोच्छ्वास।
3. कायोत्सर्ग	500 श्वासोच्छ्वास।
4. कायोत्सर्ग	1000 श्वासोच्छ्वास।

इस विधि में 'लोगस्स' सूत्र या 'णमोकार' महामंत्र का आलंबन लिया जाता है। एक पद का चिंतन एक श्वासोच्छ्वास में किया जाता है।

कायोत्सर्ग को आत्म-व्युत्सर्ग कहा जाता है। आत्म-व्युत्सर्ग करने वाला व्यक्ति 'अप्पाणं वोसिरामि' इन शब्दों में संकल्प लेता है। इस संकल्प की सिद्धि के साधन तीन हैं :

1. स्थान : शरीर की स्थिरता, 2. मौन : वाणी की स्थिरता, 3. ध्यान : मन की स्थिरता।

हमारी सारी चंचलता का मूल शरीर है, वाणी और मन की चंचलता उसी पर निर्भर है। जैन-आचार्यों का अभिमत है कि शरीर की प्रवृत्ति निरुद्ध होने पर वाणी और मन की प्रवृत्ति अपने-आप निरुद्ध हो जाती है। वाणी और मन की प्रेरक सामग्री का संग्रहण शरीर की प्रवृत्ति से होता है। उनके निरुद्ध हो जाने पर वे प्रेरक तत्त्व से विहीन होकर निष्क्रिय हो जाते हैं। शरीर, वाणी और मन की निष्क्रियता ही कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति का उत्तम साधन है। मुमुक्षु का लक्ष्य होता है—आत्मा और देह का पृथक्करण।

भेद-ज्ञान—आत्मा और शरीर को भिन्न जानना हमारी साधना का ज्ञानात्मक पक्ष है।

कायोत्सर्ग—आत्मा और शरीर की भिन्न रूप में अनुभूति करना हमारी साधना का क्रियात्मक पक्ष है।

ध्यान

प्रथम कक्षा : सालंबन ध्यान। मन को एकाग्र करना— किसी एक आलंबन पर स्थिर करना।

द्वितीय कक्षा : निरालंबन ध्यान। मन को निरुद्ध करना।

आत्मोपलब्धि के बाधक तत्त्व

आत्मा की वैभाविक (ग्रंथिपात) दशा आस्रव के द्वारा होती है। आस्रव का अर्थ है विजातीय का आकर्षण। उसके पांच प्रकार हैं :

1. मिथ्यात्व : विपरीत दर्शन, स्वभाव-विमुखता, 2. अविरति : स्वभाव में अ-रति, विभाव में रति, 3. प्रमाद : स्वभाव-उपलब्धि के प्रति अनुत्साह, 4. कषाय : स्वभाव का बाह्य से रंजन, 5. योग : चंचलता, बाह्य से संबंध।

आत्मोपलब्धि की कक्षाएं

आत्मा की स्वाभाविक दशा संवर द्वारा उदित होती है। यह आस्रव का प्रतिपक्ष है। आत्म और बाह्य जगत के संपर्क का माध्यमं आस्रव है। संवर इन दोनों के संपर्क-विच्छेद का माध्यम है। उसके पांच प्रकार हैं :

1. सम्यक्त्व : यथार्थ दर्शन, स्वभावोन्मुखता, 2. विरति : स्वभाव में रति, 3. अप्रमाद : स्वभाव-उपलब्धि के प्रति उत्साह, 4. अकषाय : स्वभाव का बाह्य से अरंजन, 5. अयोग : स्थिरता, बाह्य से असंबंध।

स्वभावोन्मुखता का अभ्यास जीव और पुद्गल के भेद-विज्ञान द्वारा विकसित होता है। भेद की अनुभूति जितनी स्पष्ट होती है, सम्यक्-दर्शन उतना ही स्पष्ट होता है। विरति का अभ्यास सत्य की अनुरक्ति से होता है। सत्य के प्रति समर्पण जितना प्रबल होता है, विरति उतनी ही प्रबल हो जाती है। सम्यक्-दर्शन और विरति का अभ्यास पुष्ट होने पर शेष संवर अपने-आप फलित होने लगते हैं।

तप से पूर्व बद्ध ग्रंथियों का मोचन होता है और संवर से ग्रंथिपात रुक जाता है।

भावना-योग

बाह्य वातावरण, मान्यता, क्रिया और पुनः-पुनः चिंतन से मन प्रभावित होता है। ये जैसे होते हैं, वैसी ही मनोदशा बन जाती है। मन पर प्रभाव डालने वाली इस सारी सामग्री को भावना कहा जाता है।

दैहिक भावनाओं को क्षीण व आत्मिक भावनाओं को पुष्ट करने के लिए अनेक आत्मोन्मुखी भावनाएं निर्दिष्ट हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की पुष्टि के लिए पांच-पांच भावनाएं निर्दिष्ट हैं। मानसिक आवेगों को क्षीण करने के लिए बारह भावनाएं तथा चार भावनाएं बतलाई गई हैं :

बारह भावनाएं ये हैं :

1. अनित्य	5. अन्यत्व	9. निर्जरा
2. अशरण	6. अशौच	10. धर्म
3. भव	7. आस्रव	11. लोक
4. एकत्व	8. संवर	12. बोधि-दुर्लभ

चार भावनाएं ये हैं : 1. मैत्री, 2. प्रमोद, 3. करुणा, 4. मध्यस्थ।

इनके अभ्यास से जो परिणाम निष्पन्न होते हैं, वे निम्न प्रकार हैं :

भावना	परिणाम
अनित्य	मानसिक साम्य
अशरण	आत्म-विश्वास, आत्म-निर्भरता
भव	अनासक्ति
एकत्व	यथार्थ की अनुभूति
अन्यत्व	भेद-ज्ञान का विकास
अशौच	शुद्ध का व्यामोह भ्रंश
आस्रव	ग्रंथिपात का विवेक
संवर	ग्रंथि-रोध
निर्जरा	ग्रंथि-मोक्ष
धर्म	आत्म-रमण
लोक	एकाग्रता
बोधि-दुर्लभता	दृष्टिकोण की शुद्धि
मैत्री	सर्वहित चिंता
प्रमोद	प्रसन्नता
करुणा	समता
मध्यस्थ	मानसिक संतुलन

आगम सूत्रों में भावना की नौका से तुलना की गई है। नौका का काम यही है कि उसके द्वारा मनुष्य तट तक पहुंच जाता है। भावना का उपयोग यही है कि उसके द्वारा मनुष्य असद् वृत्ति की नदी को पार कर सद् वृत्ति की भूमि तक पहुंच जाता है।

ध्यान

मन की दो अवस्थाएं हैं : 1. चल, 2. स्थिर। चल अवस्था को चित्त और स्थिर अवस्था को ध्यान कहा जाता है। वस्तुतः चित्त और ध्यान एक ही मन (अध्यवसाय) के दो

रूप हैं। मन जब गुप्त, एकाग्र या निरुद्ध होता है तब उसकी संज्ञा ध्यान हो जाती है। भावना, अनुप्रेक्षा और चिंता—ये सब चित्त की अवस्थाएं हैं।

भावना : ध्यान के अभ्यास की क्रिया।

अनुप्रेक्षा : ध्यान के बाद होने वाली मानसिक चेष्टा।

चिंता : सामान्य मानसिक चिंतन।

इनमें एकाग्रता का वह रूप प्राप्त नहीं होता, जिसे ध्यान कहा जा सके।

ध्यान शब्द 'ध्यैं चिंतायाम्' धातु से निष्पन्न होता है। शब्द की उत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिंतन होता है, किंतु प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ उससे भिन्न है। ध्यान का अर्थ चिंतन नहीं किंतु चिंतन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना या उसका निरोध करना है।

ध्यान के प्रकार

एकाग्र चिंतन को ध्यान कहा जाता है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर उसके चार प्रकार होते हैं :

1. आर्त्त	3. धर्म्य
2. रौद्र	4. शुक्ल

1. आर्त्त-ध्यान : चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्त्त-ध्यान कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं : (क) कोई पुरुष अमनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (अमनोज्ञ विषय) के वियोग का चिंतन करता है—यह पहला प्रकार है। (ख) कोई पुरुष मनोज्ञ संयोग से संयुक्त है, वह उस (मनोज्ञ विषय) के वियोग न होने का चिंतन करता है—यह दूसरा प्रकार है। (ग) कोई पुरुष आतंक (सद्योघाती रोग) के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग का चिंतन करता है—यह तीसरा प्रकार है। (घ) कोई पुरुष प्रीतिकर कामभोग के संयोग से संयुक्त है, वह उसके वियोग न होने का चिंतन करता है—यह चौथा प्रकार है।

आर्त्त-ध्यान के चार लक्षण हैं : (क) आक्रंद करना। (ख) शोक करना। (ग) आंसू बहाना। (घ) विलाप करना।

2. रौद्र-ध्यान : चेतना की क्रूरतामय एकाग्र परिणति को रौद्र-ध्यान कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं : (क) हिंसानुबंधी : जिसमें हिंसा का अनुबंध—हिंसा में सतत प्रवर्तन हो। (ख) मृषानुबंधी : जिसमें मृषा का अनुबंध—मृषा में सतत प्रवर्तन हो। (ग) स्तेनानुबंधी : जिसमें चोरी का अनुबंध—चोरी में सतत प्रवर्तन हो। (घ) संरक्षणानुबंधी : जिसमें विषय के साधनों के संरक्षण का अनुबंध—विषय के साधनों में सतत प्रवर्तन हो।

रौद्र-ध्यान के चार लक्षण हैं : (क) अनुपरत दोष : प्रायः हिंसा आदि से उपरत न होना। (ख) बहु-दोष : हिंसा आदि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना। (ग) अज्ञान दोषः अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना। (घ) आमरणांत दोष : मरणांत तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना।

ये दोनों ध्यान पापाश्रव के हेतु हैं। इसीलिए इन्हें अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है। इन दोनों को एकाग्रता की दृष्टि से ध्यान की कोटि में रखा गया है किंतु साधना की दृष्टि से आर्त्त और रौद्र परिणतिमय एकाग्रता विघ्न ही है।

मोक्ष के हेतुभूत ध्यान दो ही हैं—धर्म्य और शुक्ल। इनसे आश्रव का निरोध होता है, इसलिए इन्हें प्रशस्त ध्यान कहा जाता है।

3. धर्म्य-ध्यान : वस्तु-धर्म या सत्य की गवेषणा में परिणत चेतना की एकाग्रता को धर्म्य-ध्यान कहा जाता है। इसके चार प्रकार हैं : 1. आज्ञा-विचय : प्रवचन के निर्णय में संलग्न चित्त। 2. अपाय-विचय : दोषों के निर्णय में संलग्न चित्त। 3. विपाक-विचय : कर्म-फलों के निर्णय में संलग्न चित्त। 4. संस्थान-विचय : विविध पदार्थों के आकृति-निर्णय में संलग्न चित्त।

धर्म्य-ध्यान के चार लक्षण हैं : (क) आज्ञा-रुचि : प्रवचन में श्रद्धा होना। (ख) निसर्ग-रुचि : सहज ही सत्य में श्रद्धा होना। (ग) सूत्र-रुचि : सूत्र पढ़ने के द्वारा श्रद्धा उत्पन्न होना। (घ) अवगाढ़-रुचि : विस्तार से सत्य की उपलब्धि होना।

धर्म्य-ध्यान के चार आलंबन हैं : (क) वाचना : पढ़ाना। (ख) प्रतिप्रच्छना : शंका-निवारण के लिए प्रश्न करना। (ग) परिवर्तना : पुनरावर्तन करना। (घ) अनुप्रेक्षा : अर्थ का चिंतन करना।

धर्म्य-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं : (क) एकत्व-अनुप्रेक्षा : अकेलेपन का चिंतन करना। (ख) अनित्य-अनुप्रेक्षा : पदार्थों की अनित्यता का चिंतन करना। (ग) अशरण-अनुप्रेक्षा : अशरण-दशा का चिंतन करना। (घ) संसार-अनुप्रेक्षा : संसार-परिभ्रमण का चिंतन करना।

4. शुक्ल-ध्यान : चेतना की सहज (उपाधि-रहित) परिणति को शुक्ल-ध्यान कहा जाता है। इसके चार प्रकार हैं : (क) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी। (ख) एकत्व-वितर्क-अविचारी। (ग) सूक्ष्म-क्रिय-अनिवृत्ति। (घ) समुच्छिन्न-क्रिय-अप्रतिपाति।

ध्यान के विषय द्रव्य और उसके पर्याय हैं। ध्यान दो प्रकार का होता है—सालंबन और निरालंबन। ध्यान में

सामग्री का परिवर्तन भी होता है और नहीं भी होता। वह दो दृष्टियों से होता है—भेद-दृष्टि से और अभेद-दृष्टि से।

जब एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का अनेक दृष्टियों—नयों से चिंतन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलंबन लिया जाता है तथा शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में एवं मन, वचन और काया में से एक-दूसरे में संक्रमण किया जाता है, शुक्ल-ध्यान की उस स्थिति को पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी कहा जाता है।

जब एक द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिंतन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलंबन लिया जाता है तथा जहां शब्द, अर्थ एवं मन-वचन-काया में से एक-दूसरे में संक्रमण नहीं किया जाता, शुक्ल-ध्यान् की उस स्थिति को एकत्व-वितर्क-अविचारी कहा जाता है।

जब मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध हो जाता है और काया के योग का पूर्ण निरोध नहीं होता—श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया शेष रहती है, उस अवस्था को 'सूक्ष्म-क्रिय' कहा जाता है। इसका निवर्तन (ह्रास) नहीं होता, इसलिए यह अनिवृत्ति है।

जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिय' कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपाति है।

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण हैं :

(क) अव्यथ : क्षोभ का अभाव। (ख) असम्मोह : सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढ़ता का अभाव। (ग) विवेक : शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान। (घ) व्युत्सर्ग : शरीर और उपाधि में अनासक्त-भाव।

शुक्ल-ध्यान के चार आलंबन हैं : (क) क्षांति : क्षमा। (ख) मुक्ति : निर्लोभता। (ग) मार्दव : मृदुता। (घ) आर्जव : सरलता।

शुक्ल-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं :

(क) अनंतवृत्तिता अनुप्रेक्षा : संसार परंपरा का चिंतन करना। (ख) विपरिणाम अनुप्रेक्षा : वस्तुओं के विविध परिणामों का चिंतन करना। (ग) अशुभ अनुप्रेक्षा : पदार्थों की अशुभता का चिंतन करना। (घ) अपाय-अनुप्रेक्षा : दोषों का चिंतन करना।

ध्यान करने वाले व्यक्ति को साधन षट्क की शुद्धि पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होता है। छः साधन ये हैं :

1. आहार, 2. शरीर, 3. इंद्रिय, 4. श्वासोच्छ्वास, 5. वाक्, 6. मन।

आहार-शुद्धि : यह हित, मित और सात्त्विक आहार से प्राप्त होती है। इंद्रिय-शुद्धि : विषयों के प्रति निर्विकार और शांत प्रवृत्ति करने से प्राप्त होती है। श्वासोच्छ्वास-शुद्धि : यह दीर्घ श्वास तथा कायोत्सर्ग के द्वारा प्राप्त होती है। वाक्-शुद्धि : यह पदों के दीर्घोच्चारण तथा अनवद्य वचन से प्राप्त होती है। मनः शुद्धि : यह दृढ़ संकल्प करने व एक लक्ष्य पर स्थिर होने से प्राप्त होती है।

❖

दूरदर्शिता

एक वृद्ध ने आम का बीज बोया। एक युवक ने पूछा—वृद्ध! क्या कर रहे हो? तुम मरणासन्न हो, आम के बीज क्यों बो रहे हो? क्या तुम इसके फल खा सकोगे?

वृद्ध ने कहा—पूर्वजों ने बीज बोए, उनके फलों को हम खा रहे हैं। मैं बीज बो रहा हूं, उसके फल भावी संतति खाएगी। इस विषय में तुम चिंता कर दुर्बल मत बनो।

जो अपने हित को ही देखते हैं वे अदूरदर्शी होते हैं। दूरदर्शी वे ही होते हैं जो अपने हित की भांति दूसरों के हित का विचार करते हैं, जो वर्तमान की तरह भविष्य की चिंता करते हैं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

नमोस्तु तस्मै तपसेऽद्भुताय

युवाचार्यश्री महाश्रमण

प्रातः उठने के बाद रात्रि में शयन से पूर्व, भोजन से पूर्व तथा यात्रा आदि के लिए प्रस्थान से पूर्व नमस्कार महामंत्र का जप किया जाना चाहिए। इससे बार-बार वीतरागता की प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है।

यह महामंत्र भावशुद्धि की भी एक सुंदर साधना है। वृद्धों व असक्तों को तो अपने समय को सहज सार्थक बनाने के लिए इस मंत्र का खूब जप करना चाहिए। कहने को तो यह जैनधर्म का ही मंत्र है, किंतु इसमें किसी भी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। विशुद्ध गुणाधारित और संप्रदाय की प्रतिबद्धता से मुक्त मंत्र है। इसलिए इसे असांप्रदायिक सार्वजनीन मंत्र भी माना जा सकता है।

एक दिन मुझसे श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने पूछा कि विकास के लिए संवर ज्यादा ठीक है या निर्जरा? कुछ क्षण मौन रहने के बाद मैंने निवेदन किया निर्जरा (तपस्या) ज्यादा आवश्यक है। संवर में निरोध होता है, निवृत्ति होती है, जबकि तपस्या में प्रवृत्ति होती है। ज्ञान की प्रवृत्ति की जाएगी, विद्वत्ता का विकास हो सकेगा। लेखन का अभ्यास किया जाएगा तो रचनाशक्ति का विकास हो सकेगा। संगीत का अभ्यास किया जाएगा तो संगान कला का विकास हो सकेगा। इस प्रकार तपस्या के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में विकास होता है। आध्यात्मिक साधना में निर्जरा का महत्त्व है। उसका अस्तित्व पहले गुणस्थान से ही प्रारंभ हो जाता है। जबकि संवर का प्रारंभ चौथे गुणस्थान के बाद माना गया है।

निर्जरा और तपस्या दो शब्द हैं। निर्जरा की अनुप्रेक्षा करने वाला साधक निर्जरा के विभिन्न प्रकारों पर अनुचिंतन करे। निर्जरा कार्य है, तपस्या कारण है। कारण और कार्य में अभेद स्थापित करने पर ये दोनों शब्द एकार्थक भी बन जाते हैं। निर्जरा के बारह प्रकार निर्दिष्ट हैं। वे कारण के आधार पर निष्पन्न हुए हैं। कार्य तो एकाकार आत्मशुद्धि है। तपस्या के द्वारा आत्मशुद्धि तो होती ही है, अन्य शक्ति की प्राप्ति भी संभव है।

आचार्य सोमप्रभ सूरि ने तपस्या के विषय में बताया—

'यस्माद्विघ्नपरंपरा विघटते दास्यं सुराः कुर्वते,
कामः शाम्यति दाम्यतींद्रियगणः कल्याणमुत्सर्पति।
उन्मीलन्ति महर्द्धयः कलयति ध्वंसं च यत् कर्मणां,
स्वाधीनं त्रिदिवं शिवं च भवति श्लाघ्यं तपस्तन्न किम्।'

जिससे विघ्नों का विनाश होता है, देवता भी दास बन जाते हैं, कामवासना शांत होती है, इंद्रियगण का दमन होता है, कल्याण की वृद्धि होती है, महान ऋद्धियों की प्राप्ति होती है, कर्मों का संचय ध्वंस को प्राप्त हो जाता है, स्वर्ग और मोक्ष स्वाधीन हो जाते हैं, क्या वह तप श्लाघ्य नहीं है?

उपवास आदि तपस्या भी निर्जरा का एक प्रकार है। उसकी अपनी मूल्यवत्ता है। स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से भी उसकी एक सीमा में उपयोगिता है। अनेक लोग उपवास आदि तप करते हैं और अनेक लोग प्रायः नहीं करते हैं। चाहने पर भी किसी-किसी से स्वास्थ्य की अनुकूलता के अभाव में वह नहीं किया जा सकता।

निर्जरा का दूसरा प्रकार है ऊनोदरी। ऊनोदरी तप आसान भी है और कठिन भी है। भोजन में अल्पता रखना

ऊनोदरी का एक प्रकार है। इसी प्रकार वस्त्र आदि की [illegible]ा रखना भी ऊनोदरी तप है। निषेधात्मक भावों के अल्पीकरण का उपक्रम भी भाव ऊनोदरी है। केवल अनाहार की तपस्या हो और कषाय शांत न हो तो वह अपने आप में एक कमी है।

किसी गांव में एक साधु जी रहा करते थे। वे निराहार तपस्या की विशेष आराधना करते थे। उनकी तपःशीलता से प्रभावित हो, एक देवता भी उनकी सेवा में रहने लगा। एक दिन संत जी भिक्षा के लिए जा रहे थे। संकड़ी गली थी। संमुखीन मार्ग से एक धोबी आया और साधु के शरीर से टकरा गया। साधु जी को तीव्र गुस्सा आ गया और उन्होंने कहा—'अंधे हो क्या? दिखता नहीं? धोबी भी क्रोधाविष्ट हो गया और उसने साधु को धक्का दे जमीन पर गिरा दिया। साधु उठा, वहां से चला और अपने स्थान पर ज्यों ही पहुंचा, सेवा में रहने वाला देव आया और बाढ़स्वर से मुनि को वंदना की। मुनि ने पूछा—देवानुप्रिय! इतनी देर तुम कहां थे? तुम्हें पता नहीं अभी रास्ते में एक धोबी ने मुझे बहुत पीटा और नीचे गिरा दिया। देव बोला—मुनिवर! मैं तो एक जगह यह देख रहा था कि एक धोबी और चांडाल में झगड़ा हो गया। संत ने कहा—चांडाल नहीं, वह तो मैं ही था। आप कहां थे महाराज! आप तो बड़े शांत हैं। ऐसा देव ने कहा। संत ने पुनः आग्रह किया चांडाल नहीं मैं ही था। देव बोला—मुनिवर! उस समय आप में क्रोधरूपी चांडाल प्रविष्ट हो गया था। इसलिए आप नहीं थे, वह चांडाल ही था। मैं तो संत की सेवा करता हूं, चांडाल की नहीं।

कषाय को शांत करने की साधना भी एक तपस्या है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तप वही है, जिसके द्वारा आदमी का कषाय (राग-द्वेष) क्षीण होता है।

तपस्या का तीसरा प्रकार है अभिग्रह। वह एक संकल्प का प्रयोग है। अमुक स्थिति में भोजन मिलेगा, अमुक भोजन मिलेगा, अमुक समय में मिलेगा, अमुक स्थान में मिलेगा तो भोजन ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं करूंगा। इस संदर्भ में भगवान महावीर द्वारा कृत अभिग्रह प्रसिद्ध है, जो कि दासी के रूप में परिवर्तित राजकुमारी चंदना के माध्यम से फलित हुआ था।

निर्जरा का चौथा प्रकार है रस परित्याग। दूध, दही आदि विगय (विकृति) का परिहार करना रस परित्याग है। प्रकाम मात्रा में रसों का सेवन साधना में बाधक बन सकता है।

निर्जरा का पांचवां प्रकार है कायक्लेश। इसमें आसन आदि के अभ्यास के द्वारा शरीर को अनुशासित किया जाता है। कष्ट सहिष्णुता का विकास किया जाता है।

निर्जरा का छठा प्रकार है प्रतिसंलीनता। इसमें इंद्रियों, योगों का संयमन किया जाता है। उन्हें बाह्य विषयों से हटाया जाता है, प्रत्याहार किया जाता है।

निर्जरा का सातवां प्रकार है प्रायश्चित्त। इसमें पूर्वकृत दोषों की ऋजुता के साथ स्वीकृतिपूर्वक विशुद्धि की जाती है। इस विशुद्धि के लिए सरलता आवश्यक है।

निर्जरा का आठवां प्रकार है विनय। यह अहंकार विलय का प्रयोग है, सम्मान का प्रयोग है। ज्ञान विनय आदि इसके सात प्रकार हैं।

निर्जरा का नौवां प्रकार है वैयावृत्य। दूसरों की आध्यात्मिक सेवा करने वाला साधक अपने भावों को शुद्ध बना लेता है। साधु संघ में वैयावृत्य की मूल्यवत्ता है। सेवा के अभाव में साधु संस्था का संगठन पक्ष भी कमजोर पड़ सकता है। निर्जरा की अनुप्रेक्षा करने वाला साधक वैयावृत्य का सम्यक् मूल्यांकन करे।

निर्जरा का दसवां प्रकार है—स्वाध्याय। इसके वांचना, पृच्छा अनेक प्रकार हैं। जप को भी स्वाध्याय के अंतर्गत लिया जा सकता है। यह धर्म अथवा तपस्या का एक सरल तरीका है। इसके माध्यम से समय का सदुपयोग तो होता ही है, भावशुद्धि भी हो सकती है।

जैन परंपरा में अनेक मंत्र प्रचलित हैं। उनमें प्रतिष्ठा प्राप्त और सुप्रसिद्ध मंत्र है नमस्कार महामंत्र। इसमें पांच वाक्य हैं। प्रत्येक वाक्य का प्रारंभ 'णमो' शब्द से होता है। णमो का अर्थ है नमन अथवा प्रणाम। यह अहंकार-विजय का प्रयोग है। इस मंत्र का केंद्रीय तत्त्व वीतरागता है। इसमें पांच महाशक्तियों को नमस्कार किया गया है। सर्वप्रथम अर्हतों को नमस्कार किया गया है। वे अपनी साधना के द्वारा वीतराग बन चुके होते हैं। उसके बाद सिद्धों को नमस्कार किया गया है। वे भी वीतराग आत्मा होते हैं। उसके बाद आचार्यों को नमस्कार किया गया है। वे भी वीतराग अर्हतों के प्रतिनिधि होते हैं। उसके बाद उपाध्यायों को नमस्कार किया गया है। वे वीतराग वाणी का अध्ययन-अध्यापन कराने वाले होते हैं। उसके बाद सब साधुओं को नमस्कार किया गया है। वे वीतराग अथवा वीतरागता के साधक होते हैं।

इस प्रकार यह जाना जा सकता है कि नमस्कार महामंत्र की आत्मा वीतरागता है। उसको यदि अलग कर दिया जाए तो फिर मृत शरीर की भांति वह प्रतीत होता है। ज्ञानपूर्वक इस महामंत्र का जप किया जाए तो अनेक लाभ हो सकते हैं। पहली बात है कि वीतरागता की अनुमोदना होती है यानी वीतरागता की दिशा में कदम आगे बढ़ते हैं। किसी भी

बात की अनुमोदना करने का अर्थ है उसमें यत्किंचित सहभागी बन जाना। दूसरी बात है कि आत्मा की मलिनता धुलती है, वह शुद्ध बनती है। तीसरी बात जप काल में व्यक्ति अनेकानेक सांसारिक कार्यों और पापों से सहजतया बच जाता है। चौथी बात है विघ्न-बाधाओं का निराकरण हो सकता है। प्रातः उठने के बाद रात्रि में शयन से पूर्व, भोजन से पूर्व तथा यात्रा आदि के लिए प्रस्थान से पूर्व नमस्कार महामंत्र का जप किया जाना चाहिए। इससे बार-बार वीतरागता की प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है।

यह महामंत्र भावशुद्धि की भी एक सुंदर साधना है। वृद्धों व असक्तों को तो अपने समय को सहज सार्थक बनाने के लिए इस मंत्र का खूब जप करना चाहिए। कहने को तो यह जैनधर्म का ही मंत्र है, किंतु इसमें किसी भी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। विशुद्ध गुणाधारित और संप्रदाय की प्रतिबद्धता से मुक्त मंत्र है। इसलिए इसे असांप्रदायिक सार्वजनीन मंत्र भी माना जा सकता है।

स्वाध्याय की अनुप्रेक्षा करने वाला साधक इसके प्रकारों पर विचार करता है।

निर्जरा का ग्यारहवां भेद है ध्यान। ध्यान के अनेक प्रकार हैं। ध्यान की अनुप्रेक्षा करने वाला साधक इसके विभिन्न प्रकारों पर अनुचिंतन करे।

निर्जरा का बारहवां प्रकार है उत्सर्ग। उसके अनेक प्रकार हैं—कायोत्सर्ग, गणव्युत्सर्ग आदि। इसकी अनुप्रेक्षा करने वाला साधक इन प्रकारों पर अनुचिंतन करे।

इस समग्र विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म में तपस्या का एक व्यापक क्षेत्र विद्यमान है। अपनी रुचि, अनुकूलता और स्थिति के अनुसार मुख्य रूप से तप के कुछ प्रकारों को आत्मसात कर लिया जाए तो साधना का मार्ग प्रशस्त बन सकता है। तपस्या की अनुप्रेक्षा करने वाला साधक उसकी साधना और उसके परिणामों पर अनुचिंतन करे और अपने आपको तपःसाधना में नियोजित करने का प्रयास करे।

इस प्रकार यह माना जा सकता है कि निर्जरा के विभिन्न प्रकारों पर अनुचिंतन करना निर्जरा भावना है।

❖

अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति का मन स्वस्थ रहता है। मन स्वस्थ रहता है, इसका अर्थ है कि शरीर भी स्वस्थ रहता है। शरीर स्वस्थ रहता है, इसका अर्थ है कि इंद्रियां निर्मल रहती हैं। बुद्धि भी निर्मल रहती है। इस प्रकार स्वास्थ्य और निर्मलता ये दोनों साधना के परिणाम हैं। ये परिणाम हैं, किंतु मूलभूत प्रयोजन नहीं हैं। साधना का मूलभूत प्रयोजन है—सत्य का साक्षात्कार।

सत्य असीम है। हमारे इंद्रिय, मन और बुद्धि की शक्ति सीमित है। हम असीम साधनों के द्वारा असीम का साक्षात्कार नहीं कर सकते।

इंद्रिय, मन और बुद्धि के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी चैतन्य शक्ति असीम है। उसे अनावृत कर हम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। ध्यान का स्थिर अभ्यास किए बिना हम आत्मा की चैतन्य शक्ति का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं कर सकते। इंद्रिय, मन और बुद्धि का संबंध स्थूल जगत या स्थूल सत्य से होता है। उनमें सूक्ष्म सत्य तक पहुंचने की क्षमता नहीं है। ध्यान के द्वारा हम चेतना के सूक्ष्म स्तर तक चले जाते हैं। सूक्ष्म चैतन्य के द्वारा सूक्ष्म सत्य का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार अतींद्रिय ज्ञान का विकास साधना का मुख्य प्रयोजन है।

अतींद्रिय ज्ञान व आत्म-साक्षात्कार में कोई भेद नहीं है। इसे आत्मोदय भी कहा जा सकता है।

—आचार्यश्री तुलसी

महावीर का प्रखर प्रवक्ता कुंडकौलिक

मुनि विनयकुमार 'आलोक'

देव सोच रहा था, भगवान महावीर कहते हैं कि प्रत्येक पल की प्राप्ति के लिए क्रिया आवश्यक है, पुरुषार्थ जरूरी है, जबकि गोशालक ठीक इसके विपरीत कहता है। दोनों ही अपने-अपने ढंग से प्रभावी लगते हैं। दोनों के अनुयायियों की एक परंपरा है। दोनों विद्वत् और साधना से परिपुष्ट लगते हैं। फिर भी दोनों में से किसी एक की बात ही सच है। सच को जानने के लिए उसने अपना मस्तिष्क खपा दिया था।

कंपिलपुर नामक नगर के बाहर सहस्राम्र वन था। वह राजा जितशत्रु के राज्य के अंतर्गत था। गाथापति कुंडकौलिक इसी नगर का एक प्रतिष्ठित और लोकमान्य नागरिक था। पूषा उसकी धर्मपत्नी का नाम था। गाथापति कुंडकौलिक वैभव और समृद्धि से पूर्ण था।

भगवान महावीर अपने विहार-क्रम में एक बार कंपिलपुर पधारे। वे सहस्राम्र वन में विराजे। कंपिलपुर में जैसे ही यह समाचार फैला, पुरवासी भगवान के दर्शनार्थ आने लगे। नगर में इस प्रकार की हलचल देखकर गाथापति कुंडकौलिक ने उसका कारण जानने के उद्देश्य से सहस्राम्र वन जाने वाले एक व्यक्ति से अपनी जिज्ञासा प्रकट की। बड़ी श्रद्धा से उसने भगवान महावीर के पदार्पण का सुसमाचार सुनाया। गाथापति इस समाचार को सुनकर अविलंब भगवान के श्रीचरणों में पहुंच जाने के लिए उत्कंठित हो गया। वह अपनी पत्नी तथा अनुचरों के साथ भगवान के समीप जा पहुंचा। विधिपूर्वक नमन, प्रदक्षिणा आदि संपन्न कर वह भगवान के सम्मुख बैठ गया। अन्य जनों के साथ उसने भी देशना सुनी। भगवान द्वारा वर्णित हर प्रसंग, दृष्टांत और उद्‌बोधन ने उसे बहुत प्रभावित किया। उसने श्रद्धापूर्वक श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण किए और सम्यक्त्व से अभिभूत मन लिए लौट पड़ा।

भगवान महावीर के प्रभाव से गाथापति कुंडकौलिक के जीवन-व्यवहार में अकस्मात परिवर्तन आया। भगवान महावीर की धर्म प्रज्ञप्ति के प्रति वह विशेष आस्थाशील बना और साधना में स्थिर हुआ। लोक-व्यवहार के प्रति अब उसमें विशेष रुचि नहीं रही। वह यह जान चुका था कि आत्मा के उत्थान के लिए धर्म से बड़ा कोई अवलंब नहीं है।

एक समय आया कि कुंडकौलिक के मन में भी विराग का उदय हुआ। शरीर के आभरण उसे चुभने लगे। अपनी संभ्रांतता उसे खलने लगी। वह अपने भवन की अशोकवाटिका में आया। समृद्धि के प्रतीक नामांकित मुद्रा तथा कीमती उत्तरीय को उसने उतार कर एक शिलापट्ट के ऊपर रख दिया। तत्पश्चात् भगवान से स्वीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति के अवलंबन में वह प्रवृत्त हो गया।

धर्म-प्रज्ञप्ति में स्थिर गाथापति कुंडकौलिक के समक्ष सहसा एक देव उपस्थित हुआ। उसने गाथापति द्वारा शिलापट्ट पर रखे नामांकित मुद्रा तथा कीमती उत्तरीय उठा लिए तथा किंकणीनाद करता हुआ आकाश में स्थिर हो गया। वह देव साधक कुंडकौलिक की भगवान महावीर के प्रति धर्म-निष्ठा को विचलित करने के उद्देश्य से वहां आया था। अपने उद्देश्य की संपूर्ति के लिए उसने महावीर के किसी पूर्ववर्ती शिष्य गोशालक की, जो अब उनसे शत्रुता ठान चुका था, गुणगान करने लगा। देव ने अपने कथन में महावीर के धर्म-दर्शन की भर्त्सना की और गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति का बखान किया। वह कहने लगा—'देवानुप्रिय! तुम किस भटकाव में जा पड़े हो? तुम जिसे धारण कर चुके हो वह असत्य-दृष्टि है। सही दृष्टि से संपन्न तो मंखलिपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति ही है। महावीर के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम आदि कुछ नहीं हैं। मंखलिपुत्र की धर्म-प्रज्ञप्ति में सब कुछ नियति के अधीन है। कैसी है महावीर की धर्म-प्रज्ञापना जिसमें मनुष्य की शक्ति के साथ व्यर्थ ही पराक्रम का विधान किया गया है? इसमें कुछ भी तो नियत नहीं, सब कुछ अनियत है, अनिश्चय ही अनिश्चय है।

भगवान के धर्म-दर्शन पर इस प्रकार प्रहार करते देख कुंडकौलिक ने देव को उसकी गलत व्याख्या के लिए टोकना उचित समझा। मंखलिपुत्र जिस प्रकार प्रमाद-दृष्टि के कारण भगवान महावीर से विलग हुआ और जनता में भ्रम उत्पन्न कर रहा था, इसका निषेध कर भगवान महावीर के धर्म-दर्शन की सुस्पष्ट व्याख्या देना उनके हर अनुगामी का दायित्व वह समझता था। इसी भावना से उसने देव से प्रतिप्रश्न किया—'हे देव! मंखलिपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति को आप किस आधार पर सत्य और भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति को असत्य निरूपित करते हैं? मंखलिपुत्र ने सब कुछ नियति के अधीन मानकर अपने दंभ को उजागर किया है। वह अपनी ओर से निष्क्रियता को आमंत्रण देते हैं। पुरुषार्थ के समक्ष उन्होंने चुनौती स्थापित कर दी है। यदि सब कुछ नियति के ही अधीन है तो हे देव! यह स्पष्ट करो कि आप जिस दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देव-द्युति और अलौकिक प्रभा का उपभोग कर रहे हैं क्या वह आपको अनायास ही उपलब्ध हुई है? और जो अनायास ही प्राप्त हुआ है, जिसमें आपका श्रम व पुरुषार्थ नहीं लगा है, तो उसे आप कैसे स्थायित्व दे पाते हैं? उसे कैसे आप अपना कह सकते हैं और उसके उपभोग में अपने को कैसे लिप्त रख सकते हैं? क्या इस लब्धि पर आप अपनी ओर से किसी साधिकार चेष्टा को उज्जीवित कर सकते हैं? इसे प्राप्त करके भी आप कितने पौरुषहीन व निम्न कोटि के कहे जाएंगे? देव! जरा सोचें, वास्तव में बात ऐसी नहीं है, मेरा तो मानना है कि इसे प्राप्त करने में आपके उत्थान, धर्म-कर्म, बल आदि क्रियाएं योगभूत बनी हैं। आप जरा स्वयं विचार कर बतलाएं कि उक्त क्रियाओं ने ही आपको यह दिव्यता सौंपी है अथवा नहीं? मंखलिपुत्र ने त्रुटिपूर्ण तर्कों द्वारा आपके मानस को गलत दिशा की ओर मोड़ दिया है। मैं कामना करता हूं कि आप अपनी दृष्टि पर पड़े इस पर्दे को विलग कर दें।'

किंतु, देव किसी भी तर्क के लिए तैयार न था। उसने किसी तथ्य पर विचार करना भी उचित नहीं समझा। वह तत्काल बोला—'देवानुप्रिय! मुझे यह दिव्य सिद्धि स्वतः ही प्राप्त हुई है। बिना किसी प्रयास या पुरुषार्थ के।'

'देव! यदि आप स्वतः प्राप्ति को ही इतना महत्त्व देते हैं तो मुझे यह समझ नहीं पड़ता कि पाषाण, वृक्ष आदि, जिनमें उत्थान, बल आदि नहीं हैं, वे भी देव क्यों नहीं हो जाते? देव-गति बिना पुरुषार्थ के यदि मिल जाती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि सभी एकेंद्रिय जीव भी देव-गति में पहुंच जाएंगे।'

कुंडकौलिक के इस प्रश्न पर देव पसोपेश में पड़ गया। उसने मंखलिपुत्र गोशालक की अपुरुषार्थ की धर्म-प्रज्ञप्ति को यथार्थ मान लिया था, किंतु वह स्वयं ही नहीं जानता था—उसमें यथार्थ क्या है। जब तक किसी भी मान्यता पर कोई अवरोधस्वरूप प्रश्न खड़ा नहीं करता तब तक उसे जाने बिना ही लोग उसका परिपालन करते चलते हैं। वे परिपाटीबद्ध मान्यता को त्याग नहीं पाते। स्थूल सोच वाले किसी अयथार्थ को भी यथार्थ कह देने पर वैसा ही मान बैठते हैं।

देव सोच रहा था, भगवान महावीर कहते हैं कि प्रत्येक पल की प्राप्ति के लिए क्रिया आवश्यक है, पुरुषार्थ जरूरी है, जबकि गोशालक ठीक इसके विपरीत कहता है। दोनों ही अपने-अपने ढंग से प्रभावी लगते हैं। दोनों के अनुयायियों की एक परंपरा है। दोनों विद्वत् और साधना से परिपुष्ट लगते हैं। फिर भी दोनों में से किसी एक की बात ही सच है। सच को जानने के लिए उसने अपना मस्तिष्क खपा दिया था।

देव सोच रहा था, क्या गाथापति कुंडकौलिक सच कह रहा है? यदि मैं इसके कथन को सच मान लूं तो किसी और द्वारा नया तर्क प्रस्तुत करने पर मैं उसे भी सच मान लूंगा। इसका क्या प्रमाण है कि कुंडकौलिक का कथन ही यथार्थ है? मैं यदि गोशालक के सम्मुख उपस्थित होकर विवरण दूंगा तो निश्चय ही वह मुझे ऐसे तर्क देंगे कि मैं उन्हें काट नहीं सकूंगा और यदि मैं भगवान महावीर के समक्ष जाऊंगा तो वे अपनी

धर्म-प्रज्ञप्ति को सोदाहरण प्रस्तुत कर अपनी बात मेरे गले उतार देंगे।

देव इसी पसोपेश में पड़ा विचार में डूबा हुआ था कि कुंडकौलिक ने प्रश्न किया—'देव! लगता है, आप निर्णय नहीं कर पा रहे हैं। निर्णय के लिए आप मंखलिपुत्र गोशालक, प्रभु महावीर या मुझ पर निर्भर नहीं रह सकते। आपको सत्य जानने के लिए स्वयं ही पुरुषार्थ करना होगा और अपनी आत्मा की खोज करनी होगी। भगवान महावीर आत्मनिर्भरता को ही महत्त्व देते हैं।'

कुंडकौलिक के इस कथन पर देव सर्वथा निरुत्तर हो गया। यह बात तर्क से परे थी। इसका कोई उत्तर नहीं था। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति ही यथार्थ है। यह भाव मस्तिष्क में आते ही देव ने एक दिशा-सी पा ली।

देव को कुंडकौलिक ने इस प्रकार अनिर्णय की स्थिति से मुक्ति दी। वह निरुत्तर हुआ। उसने शिलापट्ट से उठाई हुई नामांकित मुद्रिका और उत्तरीय पुनः शिलापट्ट पर रख दिए और जिस ओर से वह आया था, उसी ओर लौट गया।

कुछ समय उपरांत भगवान महावीर का पुनः कंपिलपुर पधारना हुआ। भगवान महावीर की देशना से अपनी जीवन नौका को तारने के लिए सहस्रों नागरिक उनके सन्निकट समुपस्थित हुए। गाथापति कुंडकौलिक भी भगवान महावीर के समक्ष पूर्ण श्रद्धाभाव से उपस्थित हुआ।

भगवान के दर्शन कर उपस्थित जन कृतार्थ हुए। उनके हृदय में आत्म-ज्योति का प्रज्वलन हुआ। भगवान महावीर के माध्यम से वे अपनी आत्मा में झांकने में समर्थ हुए। भगवान का एक-एक कथन उनके कानों से प्रविष्ट होकर मन में समाने लगा। भगवान के उद्बोधन से उन्हें यथार्थ-दृष्टि मिली। सूर्य के आने से जैसे कमल खिलते हैं, उसी प्रकार भगवान के आने से लोगों के मन-कमल खुल कर खिल उठे।

धर्म-देशना के अनंतर भगवान महावीर ने कुंडकौलिक को संबोधित किया। कुंडकौलिक अपने स्थान से उठा और प्रभु को नमन मुद्रा में देखने लगा। भगवान महावीर ने देव के आने तथा उससे हुए शास्त्रार्थ के विषय में पूछा।

कुंडकौलिक ने यह जानते हुए कि भगवान सभी कुछ जानते हैं, उपस्थितों के लाभार्थ पूरा विवरण प्रस्तुत किया। उपस्थितों ने कुंडकौलिक की प्रशंसा की व भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति में अपनी निष्ठा को अविचल प्रमाणित करते हुए एक गरिमामयी भावना को धारण किया।

भगवान ने गाथापति कुंडकौलिक की धर्म-निष्ठा की अनुमोदना की। भगवान ने गाथापति के विवरण को शास्त्रार्थ का पुट दिया। सत्य स्वतः ही प्रस्फुटित हुआ है, यह भगवान ने उपस्थितों को बतलाया।

भगवान ने श्रमण निर्ग्रंथों व निर्ग्रंथनियों को संबोधित करते हुए कुंडकौलिक की धर्म-भावना की प्रशंसा करते हुए कहा—'गृहवास में रहने वाला एक श्रमणोपासक भी अन्य तैर्थिकों को अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण और व्याकरण आदि से निरुत्तर कर सकता है, तो आर्यो! द्वादशांगी (गणिपिटक) के अध्येता निर्ग्रंथों को तो अन्य तैर्थिकों को निरुत्तर व हतोत्साहित करना ही चाहिए।'

सभी श्रमण निर्ग्रंथों ने भगवान महावीर को वंदन-नमन किया और उनके कथन को शिरोधार्य किया। गाथापति के प्रमाण से वे उपकृत हुए।

गाथापति कुंडकौलिक ने अपनी श्रमणोपासक अवस्था में न केवल भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकारा वरन् उसे सार्थक धर्म के रूप में प्रस्थापित भी किया। गोशालक जो कभी भगवान महावीर का अनुयायी रह चुका था, प्रमादवश भगवान महावीर के विपरीत धारणा को लेकर एक नया धर्म-चरित्र उजागर करने को कटिबद्ध था।

गोशालक की भावभूमि किसी यथार्थ चिंतन पर नहीं वरन् एक विरोधात्मक, एक खंडनात्मक दृष्टि लेकर उभरी थी। उसकी भीत्ति बड़ी जर्जर और निर्मूल थी। केवल विरोध के लिए वह विरोध व्यक्त कर रहा था। एक नई बात तथा एक सबल व्यक्तित्व के विरोध में उठ खड़े होने से उसे उन तत्त्वों का साथ मिल रहा था जो विरोध में आनंद लेते थे। कई लोग जो भगवान महावीर के दर्शन से परिचित नहीं हो पाए थे, वे भी गोशालक के संबल में आकर उससे प्रभावित थे, परंतु ज्यों ही उनके सामने यथार्थ रखा जाता, वे स्वतः अपने चिंतन को सही दिशा में ले आते।

गोशालक की प्रक्रिया प्रयत्नज थी। एक यथार्थ चिंतन से लोहा लेने में उसे भरसक प्रयत्न करना पड़ रहा था। यही शक्ति यदि वह उसके अनुमोदन में लगाता तो भगवान महावीर के चिंतन से उसका जीवन दिव्यतम हो उठता और भगवान महावीर के उत्कृष्ट अनुगामियों में उसका भी बड़ा नाम होता।

गोशालक में विरोध की अग्नि मात्र थी। महावीर में चांद की शीतलता और सूरज के उत्ताप, दोनों का श्रेष्ठ समन्वय था। गोशालक में आग की झुलस थी, किंतु महावीर के दर्शन में आग और शीतलता का ऐसा उत्कृष्ट सम्मिश्रण

था कि उससे हर व्यक्ति अपने को परिष्कृत करता चलता था।

गाथापति कुंडकौलिक ने अपने दायित्व को बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से निबाहा था और इसलिए भगवान महावीर ने उसे अनुमोदना देकर ऐसे सुकार्य में प्रवृत्त होने की क्रिया को बल प्रदान किया था। कुंडकौलिक का प्रमाण देकर भगवान ने उसके अनुगमन अर्थात् उससे प्रेरणा की बात कहकर उक्त धारणा को पुष्ट किया था।

सहस्राम्र वन धर्म की सुरभि से महक उठा। अध्यात्म का दिव्य तेज वहां प्रकट हुआ था। जीवन का दर्शन हुआ था। जीवन के व्यर्थ भटकावों को वहां स्पष्ट देख पाना सभी के लिए संभव था। लोगों के तत्कालीन जीवन का सबसे महान अध्यात्म-पुरुष उस आम्रवन में पूर्ण गरिमा के साथ स्थित था।

गाथापति कुंडकौलिक भगवान महावीर की दिव्यता, गौरवमयता से संतुष्ट था और उसके मन को बड़ी शांति मिली थी। शीलव्रत गाथापति ने चौदह वर्ष पर्यंत ही ग्रहण कर लिया था। तदुपरांत उसने महसूस किया कि उसका गृह-दायित्व उसे बाधा पहुंचा रहा है। उसका ज्येष्ठ पुत्र अब योग्य हो चुका, गाथापति गृह-भार से मुक्त होने का मन बना चुका था। तत्काल ही वह निर्णय पर जा पहुंचा। उसने अपने परिजनों व मित्रजनों को आमंत्रित किया। पहले उन्हें भोज से संतृप्त किया। फिर उनके समक्ष अपना मंतव्य रखा और उनसे अनुमति चाही। अपने पुत्र को सुस्पष्ट सहयोग व व्यवहार मिले, इसलिए यह अनुमति आवश्यक थी।

सर्वजनों ने उसकी धर्म-भावना को लक्ष्य कर, उसे आत्मा-साधना का पर्याप्त अवसर मिले, इसे ध्यान में रखकर तथा उसके ज्येष्ठ पुत्र की योग्यता के प्रति आश्वस्त होकर गाथापति को गृह-त्याग की सहर्ष अनुमति प्रदान की।

ज्येष्ठ पुत्र को सारा दायित्व सौंप गाथापति कुंडकौलिक निवृत्त हुआ। प्रवृत्ति से निवृत्ति की यात्रा पूर्ण हुई! अब वह पूर्णरूपेण धर्म प्रभावना में प्रवृत्त हो गया। यह नई प्रवृत्ति निवृत्ति से संपुष्ट थी। पौषधशाला में आकर क्रमशः उसने ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की। कायोत्सर्ग आदि अनुष्ठानों से गाथापति कुंडकौलिक ने अपनी आत्मा को भावित किया।

अपनी साधना के चरम पर पहुंचकर साधक कुंडकौलिक ने मासिक संलेखना के अनंतर शरीर का त्याग किया। आत्मा उस शरीर से मुक्ति पाकर सौधर्मकल्प के अरुणध्वज विमान में देवरूप शरीर में स्थित हुई। वहां से महाविदेहक्षेत्र में जन्म ग्रहण कर, विशेष साधना संपन्न कर, वह सिद्ध, बुद्ध व मुक्त होगी। ❖

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।

यदि प्राचीन दर्शन की शब्दावली को थोड़ी देर के लिए छोड़ दें तो इस उक्ति में कोई बात नहीं जो आधुनिक विज्ञान को अग्राह्य हो। मनुष्य का ज्ञान सीमित है, उसके ज्ञान के साधन सीमित हैं। जगत अनंत है। इसलिए वह जितना जानता है, वह पूर्ण इकाई का अंश मात्र ही है। साथ ही जो नहीं देखा, वही सत्य है, जो देखा है, वह भ्रम ही होगा, यह सोचना भी सही नहीं है। इसलिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार संसार को व्यक्त और अव्यक्त, परोक्ष और प्रत्यक्ष की एकता मानना चाहिए। इसके सिवा जो भौतिक रूप स्थिर और अचल दिखाई देते हैं, वे वास्तव में स्थिर और अचल नहीं हैं। वे प्रतिक्षण गतिशील हैं और शक्ति या ऊर्जा का ही मूर्त रूप हैं। यह ऊर्जा हमारी दृष्टि से ओझल रहती है। प्राचीन दर्शन की शब्दावली में इसी बात को यों कहते हैं :

एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।।

अग्नि दिखाई भी देती है और काष्ठ के अंदर अव्यक्त भी रहती है, यही हाल ब्रह्म का है।

—रामविलास शर्मा

'परम्परा का मूल्याङ्कन' से

कहानी

इनाम

जैनेन्द्र कुमार

बालक ने आंख खोली, जैसे उसे पहचानने में कुछ देर लगी हो। फिर भी उसे मां का यह प्यार अच्छा लगा, जैसे कब से छूट गया हो और अब मुद्दत बाद मिला हो। उसने फिर आंखें मींच लीं और अपने को उस प्यार में अशक्य छोड़ दिया, बालक की दोनों कनपटियों को हाथ में लेकर मां बोली—'आंख खोल बेटे, क्या इनाम लेगा, मां से बता?'

कस्बे के हाईस्कूल के अहाते में लड़के इधर से उधर घूम रहे हैं। चहल-पहल है; उत्साह है; क्योंकि नतीजा निकलने वाला है। देर सही नहीं जा रही है; और कमरे के अंदर बंद बैठे, बड़े मास्टर लोग मानो खासकर देर इसीलिए लगा रहे हैं। आखिर नतीजा निकला। चपरासी के लिए मुश्किल हुई कि वह कागज को बोर्ड पर चिपका सके। छीन-झपट, खींच-तान में पता चला चपरासी बचेगा कि नहीं, लेकिन चपरासी की मौत न आई और कागज भी साबित रहा। लड़के नतीजा देखते, जरा गौर से देखते, देखकर फिर चले जाते। ऐसे क्रमशः हल्ला-गुल्ला कम हुआ। और तब अलग-अलग-सा वह लड़का जो कठिनाई से दस वर्ष का होगा, धीमे से आगे बढ़ा और बोर्ड के साथ आ खड़ा हुआ। उसने स्थिरता से कागज देखा, अपने नाम के आगे मां देखने के साथ उसने आस-पास के नाम देखे। वह कुछ देर मानो वहां खड़ा रहा, फिर हटा, और धीमी चाल से चल दिया।

उसका नाम धनंजय है, इस नतीजे में आठवें में आ गया है और सातवें में अव्वल आया है।

घर आकर कहा—'अम्मा, मैं पास हो गया हूं।'

उसकी मां काम में लगी थी, वह अनमनी रहती है। एक बार तो उसने सुना नहीं।

हठात् अपने उत्साह को उठाते हुए धनंजय ने कहा—'हां मां, और अव्वल हूं अपने क्लास में।

पर मां में उत्साह न था। उसने कहा—'अच्छा' और अपने हाथ काम से वह खींच न सकी। धनंजय ठिठका-सा ही रहा जैसे उसका अव्वल आना सही न हो, या उस पर खुश होना गलत हो।

सहसा कुछ याद करके मां ने कहा—'तो ले कुछ खा ले, सवेरे ही चला गया, बिना कुछ खाए-पीए, सुना ही नहीं। हां, तो अब आया है नौ बजे!'

धनंजय ने कहा—'पिताजी चले गए?'

'मैं क्या जानूं, गए होंगे।'

धनंजय उत्तर के स्वरूप पर त्रस्त होने लगा, लेकिन फर्स्ट आना छोटी बात न थी; बोला—'जल्दी चले गए आज! मैं तो आया था कि...'

मां ने कहा—'हां-हां निहाल करके रख देते वह तो; ले बैठ।'

धनंजय को बात समझ में न आई, पर आए रोज यह देखता है और समझने की चेष्टा छोड़ चुका है। ऐसे अनसमझे ही समझदार होता जा रहा है। मां की झिड़की पर चुपचाप हो बैठा। और, जो उसके सामने खाने को रख दिया गया, खाने लगा; खाते-खाते हठात् वह अन्यमनस्क हो आया। दर्जे में पहले नंबर आना और कुल दस वर्ष की अवस्था में आठवें में चढ़ जाना—इस सब कारगुजारी की बहादुरी और खुशी उसमें लुप्त हो गई। उसे अजब-सा लग आया। उसे अपने बाप के प्रति सहानुभूति हुई। उसके मन में चित्र उठ आया कि कैसे जल्दी में कोट डालकर, छतरी लेकर, धीमे-से पिताजी दफ्तर के लिए चल पड़े होंगे! वह खाता रहा और अपने पिताजी को जाते हुए देखता रहा। सहसा उस सूने में उसके पिताजी मिट गए और उस जगह पर माताजी आ गईं। बोली—'और लेगा?'

'नहीं।'

'तो अच्छा बैठ के अब पढ़। बाहर आना जाना नहीं; कहीं जो ऊधम मचाने निकल गए।'

बालक ने सुन लिया। एक क्षण को मां की ओर देखता रहा, फिर आंख नीची किए कर्तव्यपूर्वक खाने के बर्तनों को सामने से उठाया और उन्हें यथास्थान रखने को चला। मां देखती रही। यह लड़का उसकी समझ से बाहर हुआ जा रहा है! कभी लड़के जैसा रहता नहीं, मानो एकदम बूढ़ा बुजुर्ग हो। तब वह डर जाती है, जैसे अपने पर पछतावा हो। और उस समय बुजुर्ग से बात छेड़ने का उपाय भी नहीं रह जाता। उसमें सहसा मातृ-भावना उमड़ती है, पर उसके प्रकाशन का कोई कारण नहीं मिल पाता। परिणामतः उठी सहानुभूति रोष बन आती है। मां बोली—'क्यों, मेरे हाथ टूट गए हैं क्या कि लाड़ले साहब खुद बर्तन उठाकर चले? सुन ले, यह मेरे यहां नहीं चलेगा। यह नखरे दिखाना अपने बाप को!'

बालक धीर-गंभीर अपने बर्तन रखकर लौटा। तौलिए से मुंह पोंछा और बिना एक शब्द बोले छोटी-सी मेज के पास पड़ी कुर्सी पर ऐसे आन बैठा जैसे कुछ हुआ न हो।

मां के लिए कुछ न रहा। बालक पर फूलती तो कैसे? अपने को झिंझोड़ती तो कैसे? इससे झींखती हुई वह वहां से अलग चली गई और काया को एकदम काम में झोंक दिया। वेग से वह काम में जुट गई। उसके पास एक यही उपाय है—काम, काम, काम! मन का पता लेने की उस समय जरूरत नहीं रहती मानो बाहर सब सुन्न हो आया है और वह खुद काम में फंसकर शांत बनी रहती है।

काम के बीच उसने सुना—'मैं जा रहा हूं!' सुनकर मां की हठीली शांति में एकदम आग लग गई। दहाड़कर बोली—'नहीं।'

बालक मानो बहरा हो, उसने सुना ही न हो, वह द्वार की ओर बढ़ा कि बिजली की तेजी से मां ने लपक कर उसे बांह से पकड़ा; कहा—'जाता कहां है? आ, आज तेरी हड्डी पसली ही तोड़कर रख दूं।'

बालक ने प्रतिरोध ही नहीं किया। मां ने भी मारा नहीं, खींचती हुई अंदर ले जाकर खाट पर पटक दिया और कहा—'मुझे तूने क्या समझ रक्खा है? मैं घर की बस कहारन हूं। एक बार जब कह दिया कि बाहर नहीं जाना है तो तुझे हिम्मत कैसे हुई उठने की?'

खाट पर स्वस्थ भाव से नीचे लटके पैरों को हिलाते हुए बालक ने कहा—'मुझे काम है।'

'काम है!' मां ने कहा, 'बताऊं अभी तुझे काम?'

लेकिन अपनी धमकी से मां को संतोष न हुआ। कारण बालक सामने पूरा स्वस्थ और सौम्य मालूम होता था। उसकी देह को रोष का आवेग प्रचंड रूप से झकझोर गया। विस्मय यही था कि वह खड़ी कैसे रह सकी। बालक किंचित् मुस्कराकर शांत भाव से बोला—'अव्वल आने की लड़कों को मिठाई देनी है। पिताजी ने कहा था।'

'पिताजी ने कहा था! आए बड़े पिताजी, मिठाई खिलाएंगे। घर वालों को पहले रोटी तो खिला लें। यों बस लुटाना आता है। नहीं, कोई नहीं, बैठ यहीं कोने में, और अपना काम देख।' मां के तेवर देखते ही बनते थे।

बालक चुपचाप पैर लटकाए बैठा मां को देखता रहा। बोला नहीं। मां क्षण भर उसे देखती रही। वह अपने को समझ न पा रही थी। इस लड़के पर उसे गर्व था। यह दुनिया में उसी का बेटा है। उसका अपना बेटा। अव्वल आया है। आएगा क्यों नहीं। मेरा बेटा जो है। बोली—'खबरदार जो हिला! टांग तोड़कर रख दूंगी जो कुछ समझता हो तो। वह कमरे से बाहर होने को मुड़ी कि डग बढ़ता-बढ़ता रुका रह गया। एक बिजली-सी भीतर कौंध गई। वह ठिठक आई। उसकी आंखें फैलीं। पूछा—'सच बतला वहीं जा रहा था?'

बालक जैसे प्रश्न को समझ न सका, वह विस्मय से चुप रह गया।

बोली—'सब समझती हूं। वहीं जा रहा होगा। कह गए होंगे चुपके से कि....आने दो अब की उन्हें।'

बालक चुप रहा।

मां ने कहा—'बोलता क्यों नहीं है? वहीं न... मिठाई पहुंचाने जा रहा था।'

बालक बोला—'हां'

मां सुनकर सुन्न रह गई। फिर उसका अपने पर बस न रहा। उसका हाथ छूट पड़ा और बच्चे की उसने खासी मरम्मत कर डाली। बच्चा पिटता रहा, मगर रोया नहीं, इससे मां अपनी मार जल्दी न खत्म कर सकी। अंत में थकना हुआ और मां बालक को खाट पर औंधा पड़ा छोड़ लौट आई।

सोचने लगी कि यही उसका भाग्य है। घर में एक वह है और उसका काम। काम ही एक संगी है। एक रोज इसी में मर जाना है। बाकी तो सब बरी हैं। मुझे तो मौत आ जाए तो भला। एक वह है कि सवेरे छाता उठाया और चल दिए, और शाम को आए कि सब किया-धरा मिले। एक मैं करूं और मैं ही मरूं। मरने को मैं और मौज करने को चाहे कोई दूसरी... और एक यह है कमबख्त। मुझे तो गिनता ही नहीं, बस सदा उनके कहने में। घर क्या जेल है; एक इसने बांध रखा है। नहीं तो जहां होता चली जाती; मगर यहां का मुंह न देखती, न दाना लेती, न पानी—पर यह छोकरा ऐसा बेहया है कि...।

सोचती जाती और करती जाती थी काम। हाथ काम पर तनिक भी शिथिल न पड़ पाते। सफाई उसने अतिरिक्त कर डाली। व्यवस्था और व्यवस्थित हो गई। तो भी समय का अंत न आया। यह उसे अच्छा न लगता था, खालीपन उसे काटता था। विश्राम मानो उसे नरक हो जाता था। पर काम ही कुछ न रह गया था। ऐसे में वह अंदर गई, देखा बालक पड़ा सो रहा है। उसे पहले अचरज हुआ मानो याद करके उसने जाना कि वह तो पिट कर सोया है। वह कुछ देर खाट के पास खड़ी अपने इस अबोध शिशु को देखती रह गई। उसमें अनुताप उमड़ा। उसके मन में अपने इस लाड़ले के लिए प्यार भर आने लगा। देखो कि घर में ही रह कर भी अनाथ-सा रहता है। मैं जब हुआ झिड़कती रहती हूं। उन्हें—सो उनको कहां ध्यान है अपना या किसी का? वह आहिस्ता से अपने छौने के पास आन बैठी। फिर हौले से उसके गाल के नीचे अपनी हथेली देकर चेहरा ऊपर उठाते हुए बोली—'बेटे!'

बालक ने आंख खोली, जैसे उसे पहचानने में कुछ देर लगी हो। फिर भी उसे मां का यह प्यार अच्छा लगा, जैसे कब से छूट गया हो और अब मुद्दत बाद मिला हो। उसने फिर आंखें मींच लीं और अपने को उस प्यार में अशक्य छोड़ दिया, बालक की दोनों कनपटियों को हाथ में लेकर मां बोली—'आंख खोल बेटे, क्या इनाम लेगा, मां से बता?'

बेटा विह्वल हुआ पड़ा रहा, उसने कुछ बताया नहीं। मां ने कहा—'दो रुपये लेगा। अच्छा पांच रुपये, उठ!'

इतने में ध्वनि आई—'ओहो आज तो बड़े प्यार हो रहे हैं'—साथ ही बालक के पिता ने एक खूंटी से छाता लटकाया और कोट के बटन खोलने शुरू किये।

बालक की मां फौरन उठ गई। चेहरा खिंच आया, ओठ बंद हो गए, और वह तेजी से बाहर जाने को हुई। बालक झपटकर उठ बैठा। बोला—'पिताजी, मैं क्लास में फर्स्ट आया हूं।'

पिता बोले—'ओह, तभी तो कहूं कि पांच रुपये किस बात का इनाम है।'

मां बोली—'कैसे पांच रुपये! आसमान से आ जाएंगे। ला के दिया है तुमने इस महीने में? घर में तो मैं हूं, रुपये होंगे किसी और के लिए!'

'अच्छा, अच्छा', पिता बोले 'भाई क्या इनाम लेगा?'

बालक सोचता रह गया। बोला—'आप देंगे?'

पिता बोले—'कैसे पागल-सी बात करता है! अरे देंगे नहीं तो क्या यों ही। सौ लड़कों में अव्वल आना क्या हंसी खेल है?'

मां बोली—'ला रे मेरे पांच रुपये!'—और बच्चे के हाथ से अपना पांच का नोट ले वह झपट कर चौके में चली गई।

उसी समय जीने पर चप्पलों की आहट हुई और प्रमिला ने प्रवेश किया। हाथ में उसके रूमाल से ढकी तश्तरी थी। बालक उसे देखते ही उछाह से उसकी ओर दौड़ा। प्रमिला बोली—'सबर तो कर, तेरे ही लिए तो यह लाई हूं। क्यों रे, कहा भी नहीं, और अव्वल आ गया।'

बालक के पिता ने कहा—'प्रमिला!' और मानो वह आस-पास देखने लगे कि पत्नी कहां है। पत्नी आहट पा हाथ का सब काम छोड़ नीचे की ओर आंख लगा रही थी, यद्यपि चौके से नहीं निकली थी; पर अंदर कोने की खिड़की से सबकुछ निगाह में रखने का प्रयत्न कर रही थी।

प्रमिला के गले से लगे-लगे अपनी जगह आते हुए बालक को सहसा मां के चेहरे की झलक दीख गई।

प्रमिला ने कहा—'यह ले बेटे, बता और क्या इनाम लेगा?'

'मांगूंगा, तो दोगी?'

'हां दूंगी। पर तू बदमाश है, मुझी को न मांग लेना?'

'बुरा तो न मानोगी?'

शेष पृष्ठ 56 पर

प्रयाग शुक्ल की कविताएं

●

यात्रा में

किसी एक यात्रा में
कितना कुछ दिखता है—
साथ नहीं रहता सब अंत में।
पर, जितना बच जाता है,
दिखता है—
किसी एक यात्रा में,
फिर से,
वह!

●

यहां कहां थी छाया

जितनी दूर चले हम,
राह कठिन थी तपती
यहां कहां थी छाया!

दिखी कहीं, तो पाया,
फिर बारी चलने
की—

फिर दुख-सा गहराया।
यहां कहां थी छाया!

●

कौन-सी वह कथा

धूप कुछ पड़ जाय जब
पीली

पत्तियां हों हरी
गहरी शांत!

ओ! उद्भ्रांत!
देखना तब
कौन-सी वह कथा
उड़ती हुई चिड़िया
रोज कह जाती,
यहीं निभ्रांत!

●

आंका है

कई बार
पेड़ों में
छिपे अंधेरे में
झांका है—

और फिर
मन ही मन
कहा है :
'नहीं, और कुछ नहीं,
यह तो बस
छाया घने पत्तों की।'

लेकिन हर बार
कहीं यह भी लगा है :
वहां जो अंधेरा है
रचा हुआ,
उसे कहीं मैंने भी
रात को
जाग कर आंका है।

फिर, उसमें झांका है!

●

दुविधा

मैंने दुविधा से कहा :
मुझे दुविधा है।
वह मुस्करायी—
और कहा,
यह बनी रहे
तो अच्छा।

शीलन

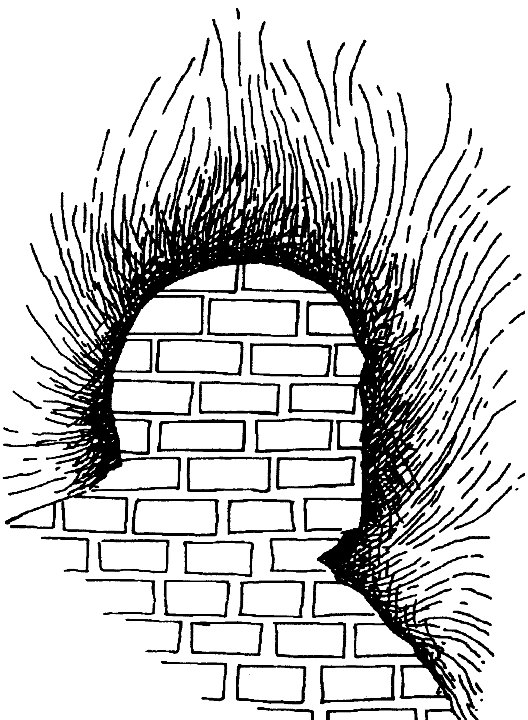

— नेता की भीड़ का संबंध बल से है।

— दुनिया में दो ही बल हैं : अश्व-बल और पुरुष-बल!

— अश्व-बल की पहचान के लिए प्रतीक हैं लोहे की जड़ मशीनें।

— पुरुष-बल की पहचान दो तरह से होती है : बाहर से और भीतर से भी!

— बाहरी बल की पहचान के लिए एक घटना द्रष्टव्य है : 'लार्ड वेलिंग्टन की पत्नी का हार खो गया। पुलिस में शिकायत की गई। थोड़ी ही देर में पुलिस ने हार लाकर दे दिया। दूसरे दिन बिस्तर साफ करते हुए असली हार मिल गया तो लार्ड वेलिंग्टन ने पुलिस-अफसर को बुलाकर पूछा 'यह क्या है?' अफसर का उत्तर स्पष्ट था, 'सर, आपका हार खो जाए और हम न ला सकें...?'

—**राजेन्द्र अवस्थी**

'काल-चिंतन' से

परस्पर भावयन्तः

श्रीमन्नारायण

जहां तक संभव हो, हमारी रचनात्मक संस्थाओं का कार्य एक-राय से संचालित हो। इस प्रक्रिया में भले कुछ देर लगे, किंतु सर्वानुमति से हमारे निर्णयों में एक मीठी खुशबू होगी, जिससे कार्यान्वयन आसान बनेगा। लेकिन सर्वानुमति का यह अर्थ न लगाया जाए कि एक व्यक्ति भी क्षुब्ध होकर संपूर्ण संस्था को ही तोड़ डाले। सर्वानुमति को सफल बनाने के लिए 'सुमति' का वातावरण नितांत आवश्यक है।

भारत की प्राचीन परंपरा समन्वय व समग्रता की कड़ी रही है। हमारे ऋषियों और पूर्वजों ने 'विश्व-मानुष' तथा 'वसुधैव कुटुंबकम्' का जीवन-दर्शन हमें प्रदान किया था। 'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः' प्रार्थना हमारे आश्रमों से प्रतिध्वनित होती रहती थी। उनका सर्व-धर्म-समानत्व का संदेश राष्ट्र के विभिन्न वर्गों और समूहों को प्रेम तथा सहिष्णुता के सूत्र में सदा बांधे रहता था।

इतिहास दर्शाता है कि हम जब धर्म, भाषा और प्रदेशों की भिन्नता के बावजूद एक रहे तब राष्ट्र ने तेजी से तरक्की की और अपना प्रभाव पड़ोसी प्रखंडों पर डाला। लेकिन जब कभी हम आपसी मतभेदों और स्वार्थों के कारण एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने में व्यस्त हो गए तभी राष्ट्र कमजोर पड़ा और हमारी स्वतंत्रता भी खंडित हुई। यह बिलकुल स्पष्ट है कि भारत जैसा विशाल राष्ट्र तभी विकसित व सुदृढ़ हो सकता है जब उसके नागरिकों के दिल और दिमाग विशाल व संतुलित हों। यदि हमारी बुद्धि व हृदय छोटे व संकुचित बन जाते हैं तो फिर हमारा देश बड़ा कैसे रह सकेगा? किसी कवि ने ठीक ही लिखा है:

'व्यक्ति त्याज्य परिवार हेतु,
परिवार त्याज्य यदि नगर दुखी हो,
नगर त्याज्य जनपद के आगे,
सभी त्याज्य यदि राष्ट्र सुखी हो।'

गीता के तीसरे अध्याय में पुरुषोत्तम कृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का मर्म समझाते हुए आदेश दिया है :

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

यानी 'हम कर्म-यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करें, और देवगण हमारी उन्नति करें। इस प्रकार हम पारस्परिक उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त हों।' मेरी दृष्टि से इसका सच्चा अर्थ यही है कि निष्काम कर्म-यज्ञ द्वारा हमारा आपसी व्यवहार ऐसा हो कि भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण का सम्यक् विकास होता रहे। हमारी साधना सामूहिक हो, और हम एक-दूसरे से द्वेष न करें :

'सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतम् अस्तु।
मा विद्विषावहै।'

तभी सुख, शांति और समृद्धि प्राप्त हो सकेगी।

ईसा मसीह ने अंतकाल में अपने शिष्यों से कहा था, 'तुम एक-दूसरे को उसी तरह से प्यार करो जैसा मैंने तुमसे प्रेम किया है।' साधारण नागरिकों के लिए भी उनका उपदेश था, 'तुम अपने पड़ोसी से वैसे ही प्यार करो जैसे तुम अपने से करते हो।' मुहम्मद पैगंबर ने अपने साथियों और शिष्यों को बार-बार यही समझाया, 'जिन्हें ईश्वर में श्रद्धा है, जो धीरज और प्रार्थना के साथ संसार में जोड़ने का काम करते हैं, उन्हीं का इहलोक और परलोक सफल होता है।'

भगवान बुद्ध के शिष्यों में आपसी द्वेष और कलह रहती थी, वे एक-दूसरे की निंदा किया करते थे। लेकिन भगवान उन्हें सदा यही उपदेश देते रहते थे—'वैर से वैर कभी शांत नहीं होता, वह प्रेम से ही शांत हो सकता है।'

एक दिन मैंने महात्मा गांधी से पूछा, 'आपके सेवाग्राम आश्रम में कई व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें साधारण समाज में किसी प्रकार का स्थान मिलना शक्य न होगा। वे आपस में प्रेम से भी नहीं रहते। फिर उन्हें आश्रम में क्यों रखा गया है?'

बापू ने मुस्करा कर उत्तर दिया, 'मेरा आश्रम तो एक तरह का 'शंभु-मेला' है। जिनकी दुनिया में किसी से नहीं बनती, मैं उनसे भी यहां कुछ-न-कुछ काम ले रहा हूं। आश्रम मेरे लिए अहिंसा और धीरज की प्रयोगशाला है।'

ऋषि विनोबा ने 'परस्परं भावयन्तः' के आदर्श को समझाते हुए कहा था—'सामूहिक साधना के लिए यह जरूरी नहीं है कि हमारे विचार एक-से हों। हां, हमारे हृदय एक हों, हम मतभेदों को दूर करने के लिए आपस में खुली और मुक्त चर्चा अवश्य करें, लेकिन किसी तरह की कटुता और मनमुटाव न रहे।' उन्होंने होमियोपैथी की दवाइयों का जिक्र करते हुए समझाया—'इन औषधियों को जितना घोटा जाए उतनी ही उनकी पोटेंसी या शक्ति बढ़ती जाती है। किंतु घोटते समय शक्कर मिलाना जरूरी है। शक्कर न डाली जाए तो दवा जहर बन जाती है और शक्कर मिलाते रहने से वही अमृत हो जाती है। इसी तरह हम आपसी चर्चा खूब करें, लेकिन मिठास के साथ, प्रेम में कमी न आने पाए।'

नैनीताल के नजदीक त्रिकाल-दर्शी नीमकरोली बाबा ने भी बिल्कुल सरल भाषा में कभी यही कहा था, 'भारत ऋषि-मुनियों का देश है। कई तूफान आएंगे और निकल जाएंगे, किंतु भारत का कुछ न बिगड़ेगा। हां, आपस में प्रेम करते रहो। बस, फिर सब ठीक ही रहेगा।'

भगवान महावीर के उपदेशों में एक बड़े मार्के की बात है। उन्होंने कहा था कि सब धर्मों, पंथों और मानवों में जो सत्य का अंश है, उसे ग्रहण करना चाहिए। किसी एक ही मजहब, पंथ या व्यक्ति के पास संपूर्ण सत्य है, यह मानना उचित नहीं है। पूज्य विनोबा ने इस गूढ़ विचार का विवेचन करते हुए एक नया शब्द दिया है—'सत्यग्राही'। 'सत्याग्रह' का विचार महात्मा गांधी ने दिया, और 'सत्यग्राही' का आदर्श भगवान महावीर ने। यदि हम सच्चे अर्थ में सत्य के ग्राही बनते हैं और अपने साथियों की बुराइयों के बजाय उनके गुणों को देखने और ग्रहण करने का प्रयास करते रहते हैं तो फिर हृदय-भेद होने की गुंजाइश ही नहीं रहती। हम आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने अवगुणों को हटाने की कोशिश करेंगे।

संत कबीर गाते हैं—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझ सा बुरा न कोय।

जैन-धर्म के विभिन्न पंथों का सार 'समण-सुत्तं' नाम से प्रकाशित ग्रंथ में आया है। इसमें सर्वसम्मति से 756 गाथाएं शामिल की गई हैं। जो कार्य पिछले ढाई हजार वर्षों में नहीं हो पाया, वह ऋषि विनोबा की प्रेरणा से पूरा हो गया। इस ग्रंथ का चौबीसवां सूत्र इस प्रकार है :

यदिच्छसि आत्मतः, यच्च नेच्छसि आत्मतः,
तदिच्छ परस्यापि च, एतावत्कं जिनशासनम्।

अर्थात् 'जो तुम अपने लिए चाहते हो वही दूसरों के लिए भी चाहो, तथा जो तुम अपने लिए नहीं चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी न चाहो। यही जिनशासन है। तीर्थंकर का उपदेश है।

कुछ इसी तरह का चिंतन अन्य धर्म-ग्रंथों में भी पाया जाता है। अगर हम यह भली-भांति महसूस करने लगें कि एक ही निर्मल और अमर ज्योति सब प्राणियों में विद्यमान है तो फिर पारस्परिक सद्भावना तथा मुहब्बत हमें सहज ही प्राप्त हो जाएगी। छोटी-छोटी बातों को लेकर मन-मुटाव का संचार असंभव होगा। मनु महाराज ने स्पष्ट आश्वासन दिया है :

एवं यः सर्व-भूतेषु पश्यति आत्मानमात्मना।
स सर्व-समतां एत्य ब्रह्माभ्येति परम पदम्।।

आपसी मतभेद होना केवल स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है; किंतु इन मतभेदों को दूर कर सर्वानुमति प्राप्त करने की प्रक्रियाएं भी कई संस्थाओं ने प्रस्थापित की हैं। उदाहरण के लिए क्वेकर संप्रदाय के सदस्य आपसी मतभेद उपस्थित हो जाने पर एक बंद कमरे में मौन-ध्यान के लिए बैठ जाते हैं, ताकि उन्हें प्रभु की प्रेरणा मिल सके। रोम में पोप के चुनाव के समय वेटीकन सिटी में एक कमरा है, जिसमें चुनाव करने वाले सभी कार्डीनल बंद कर दिये जाते हैं और जब तक एक राय से चुनाव पूरा न हो जाए तब तक उस कक्ष के किवाड़ खोले नहीं जाते। कभी-कभी सर्वानुमति होने में एक सप्ताह लग जाता है। जैसे ही सर्वसम्मति से नए पोप का निर्वाचन पूरा हो जाता है, कमरे की चिमनी से सफेद धुआं निकलने लगता है और चारों ओर हर्ष-ध्वनि होती है। फिर उस कमरे के दरवाजे का ताला खोल दिया जाता है। काफी वर्ष पूर्व जब मैंने सर्वोदय-विचार-प्रचार के लिए विश्व-भ्रमण

किया था तब 'वेटीकन' में यह कक्ष देखकर बड़ी खुशी हुई थी। इसमें भोजन आदि का सभी आवश्यक प्रबंध था; किंतु खाना बाहर ही तैयार करके खिड़कियों द्वारा अंदर दे दिया जाता है। कक्ष के भीतर कार्डीनलों के अलावा और कोई भी व्यक्ति नहीं जा सकता। काश भारत की कम-से-कम कुछ आध्यात्मिक व सांस्कृतिक संस्थाओं में भी इस प्रकार की परंपरा डाली जा सके! बहुसंख्या के आधार पर चुनावों की पद्धति से हमारे समाज में बहुत-सी बुराइयां घर कर गई हैं। जहां तक संभव हो, हमारी रचनात्मक संस्थाओं का कार्य एक-राय से संचालित हो। इस प्रक्रिया में भले कुछ देर लगे, किंतु सर्वानुमति से हमारे निर्णयों में एक मीठी खुशबू होगी, जिससे कार्यान्वयन आसान बनेगा। लेकिन सर्वानुमति का यह अर्थ न लगाया जाए कि एक व्यक्ति भी क्षुब्ध होकर संपूर्ण संस्था को ही तोड़ डाले। सर्वानुमति को सफल बनाने के लिए 'सुमति' का वातावरण नितांत आवश्यक है। जहां 'कुमति' होगी, वहां न सर्व-सम्मति हो सकेगी और न आपसी सद्भाव। यह सुमति से ही सध सकेगा।

असली बात तो यह है कि 'सुमति' के वातावरण का तभी निर्माण होगा जब किसी संस्था के सामने भव्य और उत्तुंग लक्ष्य हो। उदाहरण के लिए स्वराज्य मिलने के पहले कांग्रेस के सम्मुख आजादी का एक निश्चित ध्येय था, जिसके लिए उसके कार्यकर्त्ता हमेशा मर-मिटने को तैयार थे। सर्व सेवा संघ ने कई वर्षों तक भूदान-ग्रामदान की अहिंसक क्रांति में सक्रिय हिस्सा लिया। रचनात्मक सेवकों में उस समय एक तमन्ना थी भूमि की समस्या हल कर डालने की और भारत में ग्राम-स्वराज्य को स्थापित करने की। धीरे-धीरे यह आंदोलन मंद पड़ता गया, और विनोबा जी ने 'क्षेत्र-संन्यास' ले लिया। इसी बीच जयप्रकाश जी का संघर्षात्मक आंदोलन फूट निकला और कार्यकर्ताओं का ध्यान सहज उधर झुक गया। जैसे प्रकृति में रिक्त-स्थान नहीं रह सकता, उसी प्रकार संस्थाएं भी बिना किसी ठोस और प्रेरक कार्यक्रम के तेजस्वी बनी नहीं रह सकतीं। ध्येय की रिक्तता के कारण उनमें गतिरोध उत्पन्न हो जाता है और उसके साथ ही आपसी संघर्ष और वैमनस्य प्रकट होने लगता है।

इस वक्त रचनात्मक या शिक्षण संस्थाओं के लिए कौनसा 'मिशन' ऐसा है, जिसके लिए कार्यकर्ता अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार हो सकते हैं? जहां तक मैं सोच सकता हूं वह मिशन 'अंत्योदय' का ही हो सकता है। गांधी जी ने हमें सदा आदेश दिया था कि सबसे अधिक गरीब और दीन-दुखियों के कल्याण के बिना सर्वोदय का विचार केवल कवि-कल्पना ही बनकर रह जाएगा। इसी दृष्टि से उन्होंने दरिद्रनारायण की सेवा को इतना महत्त्व दिया था। स्वराज्य के इतने वर्ष बाद भी योजना आयोग के आंकड़ों के अनुसार लगभग बाईस करोड़ जनता 'गरीबी-रेखा' के भी नीचे जिंदगी बसर कर रही है। निरंतर बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति के कारण यह रेखा दिन-दिन अधिक नीची होती जा रही है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि आज भारत की करीब आधी जनसंख्या भयंकर गरीबी की चपेट में अपना वक्त गुजार रही है।

फिर क्या किया जाए? हम अगर जरा गहराई से अध्ययन करें तो देखेंगे कि खादी-ग्रामोद्योग जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा भी हम 'अंत्योदय' के लक्ष्य तक नहीं पहुंच पा रहे हैं। गोसेवा, हरिजन-कल्याण, आदिवासी विकास, नई तालीम और प्राकृतिक चिकित्सा की योजनाओं के जरिए हमारी संस्थाएं दरिद्रनारायण की सेवा करने में काफी हद तक असफल रही हैं।

अतः संघर्ष या सहयोग के निरर्थक विवाद में पड़े बिना अपने हरेक कार्यक्रम को इसी मापदण्ड पर तोलना है कि उससे अत्यंत निर्धन वर्गों को कितना लाभ पहुंच रहा है। सरकारी योजनाओं की कामयाबी भी इसी नजरिए से नापी जानी चाहिए। यदि हमारी पंचवर्षीय योजनाएं अब भी 'गरीबी रेखा' के नीचे रहने वाली जनता के जीवन को न छू सकेंगी तो फिर समाजवाद और 'गरीबी हटाओ' के नारे बिल्कुल थोथे साबित होंगे।

बहुत वर्ष पहले राष्ट्रपिता ने हमें एक मूल-मंत्र दिया था, 'जब तुम यह निर्णय न कर सको कि तुम्हारा क्या धर्म है, और तुम्हारी बुद्धि भ्रम में पड़ जाए, तब तुम उस व्यक्ति के चेहरे को याद करो जो तुम्हारी नजर में अत्यंत दुखी और गरीब था, और तुम अपने-आपसे पूछो कि जो काम तुम करने जा रहे हो, उससे इस अति गरीब का क्या फायदा होगा? उसी वक्त तुम्हारा भ्रम दूर हो सकेगा और तुम्हें सही मार्ग दीखने लगेगा।'

बस, बापू का दिया हुआ यही तिलिस्म हमें एक नए 'मिशन' की प्रेरणा दे सकता है। उसी के द्वारा 'परस्परं भावयन्तः' का मार्ग भी एक बार फिर प्रशस्त हो सकता है। दुनिया के इतिहास का निचोड़ यही है कि ऊंचे दरजे का मनुष्य त्याग और बलिदान की ओर आकर्षित होता है, भोग और विलास की ओर नहीं। इसी त्याग और आत्म-समर्पण से उसमें भाईचारा तथा बिरादरी की भावनाएं प्रस्फुटित होती हैं और वह अपने साथियों के साथ कारवां बनाकर अपने ध्येय की ओर अग्रसर होता है। ❖

बीमारियां : समाधान प्राणायाम

साध्वी राजीमती

आदमी जैसा सोचता है वैसा कर नहीं पाता और जैसा करता है उससे उसे पर्याप्त संतोष नहीं मिलता। इस प्रकार वह स्वयं में ही अंतर्द्वंद्व पाल लेता है। इस द्वंद्व की स्थिति से निपटने का यदि कोई सही मार्ग है तो यही कि हम स्वयं को शक्तिशाली बनाएं, आत्मबल को बढ़ाएं।

आज के युग की सबसे बड़ी बीमारी है–तनाव। तनाव का अर्थ है–खिंचाव, कड़ापन और दबाव। आज देखा गया है, मन का कड़ापन शरीर में गांठें पैदा करता है और मन के दुर्भाव शरीर में घाव। वर्तमान में जीने वाले लगभग सभी व्यापारियों को चिंताओं से लड़ना-जूझना पड़ता है। फलतः कुछ लोगों को ब्लडप्रेशर, डायबिटीज, हृदय रोग तथा अल्सर जैसी भयानक बीमारियों से ग्रस्त होने के पश्चात् मानसिक कुंठा, निराशा तथा अनिद्रा की बीमारी हो जाती है। दिन भर सोचते रहने और रात भर नींद नहीं आने या स्वप्न देखने वालों की हालत एक अनाथ बालक से कम दयनीय नहीं होती। ऐसे लोगों के लिए प्राणायाम परम उपयोगी चिकित्सा है।

आज अधिकांशतः मानव-मस्तिष्क में महत्त्वाकांक्षा का जहर घुलता रहता है। वह किसी न किसी दौड़ में स्वयं को खड़ा देखना चाहता है। इस महत्त्वाकांक्षा की दौड़ तथा सामाजिक मूल्य मानकों की सुरक्षा में भले चंगे लोग चरमरा जाते हैं।

इस प्रतियोगिता में यथार्थ को समझ कर स्वयं में संतुष्ट रहने की स्थिति प्राणायाम से तैयार की जा सकती है।

जो लोग बौद्धिक क्षेत्र में काम करते हैं उनके लिए प्राणायाम 'जीवन रस बूंटी' है और मंदबुद्धि लोगों के लिए यह 'सोमरस जड़ी' है।

प्राणशक्ति सबल होने से एक डॉक्टर को रोग निदान तथा ओषधि का चुनाव करने में आंतरिक सहायता मिलती है। यही बात एक ज्योतिषी तथा वकील के लिए लागू होती है। अमुक केस की बारीकी तथा मुकदमे की सचाई पकड़ने में प्राणऊर्जा एक सच्चे 'असिस्टेंट' का काम करती है।

लेखक की लेखनी तथा वक्ता की वाणी में जान इसी प्राणशक्ति के द्वारा आती है। मानसिक थकान मिटाने के लिए लंबी तथा गहरी धीमी सांस वाला प्राणायाम 'ट्रेंक्युलाइजर' गोली का काम करता है।

आज प्रत्येक व्यक्ति को एक दूसरे से परस्पर शिकायत है। साथ ही बदलाव की भारी अपेक्षाएं महसूस की जा रही हैं, लेकिन स्वयं को बदलने के लिए कोई राजी नहीं है, सब औरों के सुधार में लगे हैं। पत्नी पति को शराबमुक्ति के लिए शपथ दिलाना चाहती है और उसके जुआरी रूप को बदलना भी। मां पुत्र को स्वस्थ और अनुशासित देखना चाहती है तथा अपने नौकर को शांत और ईमानदार। यदि पत्नी और मां चाहें तो बहुत जल्दी अपनी प्राण विद्युत तथा संकल्प शक्ति को बढ़ाकर उन्हें बदल सकती है।

प्राणायाम करने वाला शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार का स्वास्थ्य प्राप्त करता है। सामान्यतया हर एक को बुढ़ापे में झुर्रियां, जोड़ दर्द, स्नायविक कठोरता तथा मानसिक थकान की अनुभूति होती है, किंतु प्राणायाम करने वाला बूढ़ा अपने में सदा नई स्फूर्ति तथा ताजगी को देखता है। वर्तमान युग के छात्र और छात्राओं का शारीरिक तथा मानसिक संतुलित विकास न होकर एकांगी विकास हो रहा है। प्राणायाम उन सभी को अपनी सरल विधियों द्वारा मस्तिष्क के दोनों भागों का संतुलित विकास करके समाधान देता है। अपेक्षा है इस क्षेत्र में कार्यशील संस्थाएं इस ओर ध्यान दें।

बीमारियों का एक बहुत बड़ा कारण रक्तविकार है और रक्तविकार का एक कारण है 'ब्लड वेसल्स' में पर्याप्त ऑक्सीजन का नहीं पहुंचना। प्राणायाम से फेफड़ों में पर्याप्त 'ऑक्सीजन' पहुंचता है। रक्त शुद्ध होता है, मस्तिष्क भारहीन होता है तथा बंद पड़े चैतन्य के द्वार खुलने लग जाते हैं।

प्राणायाम का शरीर व मन पर प्रभाव

प्राणायाम दीखने में एक विशुद्ध शारीरिक क्रिया है। किंतु यही शारीरिक क्रिया कुछ समय के पश्चात् सभी प्रमुख शक्तियों में जागरण की अनुकूलता बढ़ाकर उनसे परिचय करा देती है। विशुद्ध एवं वश में किया गया प्राण बहुत शीघ्र इंद्रियों की निरंकुशता तथा मन की चपलता को कम करके विसंगत-खंडित व्यक्तित्व की सभी रेखाओं में एकता उत्पन्न कर देता है।

आदमी जैसा सोचता है वैसा कर नहीं पाता और जैसा करता है उससे उसे पर्याप्त संतोष नहीं मिलता। इस प्रकार वह स्वयं में ही अंतर्द्वंद्व पाल लेता है। इस द्वंद्व की स्थिति से निपटने का यदि कोई सही मार्ग है तो यही कि हम स्वयं को शक्तिशाली बनाएं, आत्मबल को बढ़ाएं। उसका साधन है—प्राणायाम, संकल्प और ध्यान।

प्राणायाम के मौलिक लाभ

1. प्रत्येक विकट परिस्थिति के साथ हम अपना समंजस बिठा सकते हैं।
2. प्राणायाम की नियमित साधना से अचिकित्स्य (इंक्यूरेबल) बीमारियों को मिटा सकते हैं।
3. प्राणायाम से प्राण और अपान दोनों को शुद्ध करके कुंडलिनी स्थान को भावनायोग से प्रवाहित करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है।
4. प्राणायाम से योगी अपने चारों ओर (भीतर-बाहर) एक ऐसा 'सुरक्षा-कवच' निर्मित कर लेता है जिसके कारण वह किसी घातक-कुशक्ति से आहत नहीं होकर निर्भय विचरता है।
5. प्राणायाम का साधक बहुत जल्दी अपनी असफलता को सफलता में बदल लेता है।
6. स्वर्ण शुद्धि के लिए सुनार जैसे होठफरनिस में वायु देकर उसे शुद्ध करता है उसी प्रकार साधक श्वास की वायु से स्थूल और सूक्ष्म शरीरगत मल-दोषों को दूर करता है।
7. बैटरी में जैसे बिजली स्टोर की जाती है उसी प्रकार योगी प्राणायाम से प्राण विद्युत को मस्तिष्क और तेजस सूर्य चक्र में 'स्टोर' करके उसे आवश्यकतानुसार यथा स्थान भेजकर उपयोग करते हैं।
8. प्राणवायु के निरोध से मन का निरोध होता है फलतः साधक प्राणविजेता और मनोविजेता बनता है।
9. महर्षि वशिष्ठ राम से कहते हैं, जैसे पंखे के बंद होने पर हवा की गति बंद हो जाती है वैसे ही प्राणवायु के बंद होने पर मन परम शांति को प्राप्त होता है, निरुद्ध हो जाता है।
10. वायु तथा कफ जनित रोगों का एकमात्र इलाज प्राणायाम बन सकता है—यदि स्थिरता से उसका अभ्यास किया जाए।
11. प्राणों को वश में करने से राज्य प्राप्ति से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक का सुख पाया जा सकता है।
12. प्राणायाम करने वाला अपनी जीर्ण-शीर्ण विकृत आदतों के परिवर्तन का भीतरी सामर्थ्य पा लेता है।
13. प्राणायाम करने वाला घर बैठे एक सफल चिकित्सक की तरह संपूर्ण विश्व की सेवा कर सकता है। वह शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तीनों प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि का शमन करने में सक्षम होता है।
14. प्राण संग्रह करते-करते दृश्य जगत के पार जो है, साधक उससे संपर्क बनाने की क्षमता पा लेता है।
15. प्राणविजयी होने पर हिचकी, श्वास और दर्द जैसी व्याधियों का सर्वनाश हो जाता है। फलतः आरोग्य, वाग्मधुरता, शीघ्रगति, बल वर्ण तथा मन की प्रसन्नता प्राप्त होती है।
16. महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम को स्वास्थ्यसुधार एवं रोग निवारण के साथ-साथ आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का सर्वोच्च साधन बताया है।
17. योगी गोरखनाथ के अनुसार शरीरस्थ जीवन का आधार ही प्राण है।
18. रक्तचाप और स्नायु रोग पीड़ित लोगों को चिंता अधिक पकड़ती है; फलतः वे हर सामान्य घटना पर असंतुलित हो जाते हैं तथा जो रात को स्वप्न विशेष देखते हैं उनके लिए प्राणायाम एक सफल चिकित्सा बन सकती है।
19. प्राणायाम का फलित है—शरीर पुष्ट, कांतिमान, रक्त कणों में आवश्यक वृद्धि, फेफड़ों में ऑक्सीजन-अवकाश, पाचन, लीवर तथा गुर्दे की स्वस्थता और कार्य में उत्साह, क्रमशः अंतर्मुखी भावनाओं का उदय।

❖

बाल कथा

अधूरा मंदिर

यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र'

'देवी! राणा जी जंगल-जंगल भटक रहे हैं। वे हमारे स्वामी हैं और इतनी विकट स्थिति में उन्हें धन की बड़ी जरूरत है। बिना धन वे अपने मेवाड़ को स्वतंत्र नहीं करा सकते। मुगलों की सेना की कठोर घेराबंदी के कारण हम धन जुटाने में भी असमर्थ हैं। मैं क्या चाहता हूं या शायद भगवान की ही इच्छा है कि कुछ समय के लिए मंदिर का निर्माण रोक दूं।'

'शाह जी!'

'बड़ो हुक्म एकलिंग दीवाण जी।' भामाशाह ने सिर झुका कर राणा प्रताप का अभिवादन किया।

'लगता है कि संकट के बादल गहराने लगे हैं।' राणा जी ने हताश होकर कहा।

'नहीं राणा जी, जो भाग्य में लिखा है, वह तो होकर ही रहेगा। दुख-सुख, धूप-छांव, उजाला-अंधेरा, ऊंच-नीच, यह तो जीवन में होते ही रहते हैं, पर इसका मतलब यह नहीं है कि हम पुरुषार्थ करना ही छोड़ दें।'

'लेकिन हल्दीघाटी की हार से हमारे सपने टूट गए हैं।...अकबर बादशाह ने हमारे चित्तौड़ पर अपना अधिकार कर लिया है। हमारी जन्मभूमि को परतंत्र कर दिया है।'

'राणा जी! मैं आपका सेवक हूं।' हमारे खानदान ने पीढ़ियों से आपके कुल-गौरव की सेवाएं की हैं। आज भी मैं और मेरा छोटा भाई ताराचंद प्राणपण से मेवाड़ को दासता से मुक्त कराने की चेष्टा कर रहे हैं।

'हमें आप पर पूरा विश्वास है। आपने सदा जन्मभूमि के सामने अपने प्राण, धन, परिवार और इच्छाओं को तुच्छ समझा है।'

भामाशाह ने उनसे विदा लेते हुए कहा—'आप धैर्य रखिए। संकट में धैर्य ही बुद्धि को सही रखता है और प्रयास को विजय गति देता है।'

राणा जी को मस्तक नवा कर भामाशाह अपनी हवेली आ गए। राणा जी की चिंताओं ने लाख चाहने पर भी उसे उदास बना दिया।

भामाशाह के परिवार के भारमल्ल जी सबसे पहले राणा सांगा के जमाने से मेवाड़ राज्य की सेवा में आए थे। भामाशाह उस परंपरा को अच्छी तरह निभा रहे थे।

भामाशाह का जन्म 22 जून, 1547 ई. में हुआ था। वे कावड़िया गोत्र के थे। ओसवाल जैन। उनकी पत्नी का नाम धनलक्ष्मी था। वह भोमा नाहटा परिवार की बेटी थी। वह विदुषी, धार्मिक और उदार स्वभाव की थी।

भामाशाह उनका बड़ा सम्मान करते थे और वह भी। वह जानती थी कि उनके स्वामी ने बचपन से ही

युद्ध कला, राजनीति, तीरंदाजी, तलवारबाजी और जैन धर्म की सही शिक्षाएं ली थीं। उनकी मां भी भामाशाह को केवल जैन धर्म की ही नहीं, देश प्रेम की भी कहानियां सुनाती रहती थी।

एक बार बचपन में वे मां के साथ मंदिर जा रहे थे। ठंड कड़ाके की थी। ठंडी हवाएं बदन को कंपकंपा रही थीं। भामाशाह ने देखा कि नंगा-सा एक भिखारी ठंड के कारण कांप रहा था। उसने बालक की ओर याचना भरी दृष्टि से देखा। मां से सुनी करुणा भरी कहानियों का ही असर था कि भामाशाह ने अपनी गर्म चादर उतार कर उस भिखारी को ओढ़ा दी।

मां हैरान! भामाशाह ने मां की ओर आदरभाव से देख कर कहा—'मां जी! मेरे पास दो चादरें हैं, मैंने इसीलिए एक चादर इस भिखारी को दे दी।'

इसे ही अपरिग्रह कहते हैं। जरूरत से ज्यादा जो वस्तुएं हैं, उन्हें जरूरतमंद को दे दो।

ऐसे संस्कार थे भामाशाह के।

हवेली में प्रवेश करते ही वे अधिक गंभीर हो गए। पगड़ी और वस्त्र बदल कर 'दानखाने' में बैठ गए। दासी ने आकर चांदी के गिलास में पानी दिया। उन्होंने पानी पीकर खंखारा। पीठ तकिए के सहारे कर विचारों में डूबे तनिक पसर से गए।

तभी उनकी पत्नी धनलक्ष्मी आई। चरण-स्पर्श करके वह उनके पास बैठ गई।

उसने विनम्रता से पूछा, 'क्या बात है? आप आज इतने गंभीर क्यों हैं!'

भामाशाह ने कहा, 'देवी! आज हमारी स्वामी-भक्ति की परीक्षा है।'

धनलक्ष्मी ने कहा, 'स्वामी! आप सदा हर परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं। इस परीक्षा में भी हमें तन-मन-धन की शक्ति लगा देनी चाहिए। यह तो स्वामीभक्ति की महान परीक्षा है।'

'देवी!' भामाशाह ने लंबा सांस लेकर कहा—'तुम्हारी सूझबूझ और बुद्धि कौशल ने मुझे सदा साहस बंधाया है। यह अग्नि-परीक्षा की घड़ी है।'

उसी समय दासी ने आकर कहा, 'कोई आपकी बहिन आई है सेठाणी जी।'

धनलक्ष्मी उठकर चली गई।

भामाशाह ने नेत्र मूंद लिए।

कुछ अर्से पहले की बात है।

जब मेवाड़ में सुख-शांति थी। भामाशाह समृद्धि के शिखर पर थे। तभी एक दिन धनलक्ष्मी ने प्रार्थना की, 'स्वामी! आप सदैव दयालु, धार्मिक और दानी रहे हैं। क्या आप मेरी एक इच्छा की पूर्ति करेंगे।'

भामाशाह ने विहंस कर कहा, 'देवी! तुम मेरी अर्द्धांगिनी हो। आधा अंग। वैसे तुम स्वयं अपनी इच्छा को पूरा करने का अधिकार रखती हो।'

'आप ठीक फरमा रहे हैं। किंतु पत्नी का धर्म होता है कि वह बिना पति की आज्ञा के कुछ भी नहीं करे इसलिए मैं आपसे पूछ रही हूं।'

'कहो।'

'देलवाड़ा में अनेक धर्मात्मा सेठ मंदिर बना रहे हैं। मेरी इच्छा है कि आप भी एक मंदिर वहां बनवा दीजिए।'

भामाशाह ने हंसकर कहा, 'देवी! मैंने समझा कि तुम किसी कीमती जेवर बनाने के लिए मुझे कहोगी। पर तुमने तो वह जेवर बनाने के लिए कहा है जो बेजोड़ और अमूल्य है। भला मैं इसके लिए कैसे इंकार कर सकता हूं। मैं आज ही इसके लिए बहुत बड़ी धनराशि अलग रख देता हूं।'

'आप उसका किसी शुभ मुहूर्त में श्रीगणेश करा दीजिए। आप तो जानते हैं कि धन का सदुपयोग यही है कि यदि अतिरिक्त धन हो तो उसे सद्कार्य में लगाएं, भूखा है उसे अन्न प्रदान करें, वस्त्रहीन को वस्त्र दें, बेघर को घर प्रदान करें।'

'वाह! देवी वाह! अपरिग्रह की सरल परिभाषा भी यही है। मैं जल्दी ही मंदिर निर्माण कराना शुरू करूंगा। तुम्हारी यह इच्छा मैं जरूर-जरूर पूरी करूंगा।'

धनलक्ष्मी भाव-विह्वल हो गई। बोली, 'आप पति-परमेश्वर सही रूप में हैं।'

भामाशाह ने अपनी पत्नी की इच्छा पूर्ति के लिए देलवाड़ा में मंदिर बनवाना शुरू कर दिया। भव्य जैन मंदिर बनने लगा।

कुछ ऐसे कार्य होते हैं जो नियति के हाथ में रहते हैं। वही उसको पूर्ण-अपूर्ण रखती है।

एकाएक अकबर बादशाह द्वारा मेवाड़ विजय कर लिया गया। हल्दीघाटी की पराजय देश की पराजय हो गई।

राणा प्रताप दर-दर भटकने लगे। धन का इतना अभाव कि राणा जी टूटने लगे। तब भामाशाह मेवाड़ के दीवान थे। क्या करें। आखिर भामाशाह और ताराचंद यानी दोनों भाइयों ने मिल कर कुछ धन-संग्रह किया। इससे राणा प्रताप को थोड़ी राहत मिली।

भामाशाह भी राणा जी के साथ ही रहते थे। जब वे किसी भी तरह पर्याप्त धन की व्यवस्था नहीं कर पाते थे।

एक दिन इतनी भयंकर स्थिति उत्पन्न हुई कि राणा जी के परिवार को रोटी तक नसीब नहीं हुई।

वीरवर राणा प्रताप का हृदय टूट-सा गया।

उनकी आंखों से आंसू टपक पड़े।

भामाशाह की सहन-शक्ति भी टूट-सी गई। उन्होंने राणा जी को विश्वास दिलाया कि वे आपकी इस विकट समस्या का हल करेंगे।

'शाह जी! कई बार धन के अभाव में स्वाधीनता की लड़ाई नहीं लड़ी जाती। मुगल सेना ने मेवाड़ को अपने शिकंजे में बुरी तरह कस रखा है। सारे धन कमाने के उपाय एक तरह से बंद हैं।'

भामाशाह ने उत्साह से कहा, जब सारे-द्वार बंद हो जाते हैं तो परमात्मा एक द्वार और खोल देता है। आप उन पर भरोसा करें।

यह कह भामाशाह अपने दानखाने की ओर चल पड़े। वे आकर बैठे ही थे कि धनलक्ष्मी ने भी दानखाने में प्रवेश किया।

धनलक्ष्मी ने उदास भामाशाह को बैठते ही पूछा 'स्वामी! आप बताएं तो सही कि आप की उदासी का आखिर कारण क्या है?'

'आज मैं तुम से एक याचना करना चाहता हूं।' भामाशाह बोले।

'याचना नहीं, आप आदेश दीजिए! मैं उस आदेश को किसी भी तरह पूरा करूंगी।'

'देवी! तुम, धर्मशील भोमा नाहटा की बेटी हो?'

उसने बीच में ही रोक कर कहा, और वीर शिरोमणि, दानवीर और स्वामीभक्त भामाशाह जी की पत्नी भी हूं। मुझे आपकी पत्नी होने का बहुत गर्व है।'

भामाशाह ने सहमते-सहमते कहा, 'देलवाड़ा का हमारा मंदिर आधा बन गया है।'

'हां, स्वामी।'

'मेरी विवशता है कि इस मंदिर को कुछ काल के लिए रोक दूं।'

'क्यों?' धनलक्ष्मी चौंक पड़ी।

'देवी! राणा जी जंगल-जंगल भटक रहे हैं। वे हमारे स्वामी हैं और इतनी विकट स्थिति में उन्हें धन की बड़ी जरूरत है। बिना धन वे अपने मेवाड़ को स्वतंत्र नहीं करा सकते। मुगलों की सेना की कठोर घेराबंदी के कारण हम धन जुटाने में भी असमर्थ हैं। मैं क्या चाहता हूं या शायद भगवान की ही इच्छा है कि कुछ समय के लिए मंदिर का निर्माण रोक दूं।'

धनलक्ष्मी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

भामाशाह ने फिर कहा, 'देवी! देश है तो हम हैं? हम हैं तो धर्म है। मंदिर हैं। यदि हमने मेवाड़ को स्वाधीन करा लिया तो यह अधूरा मंदिर शानदार ढंग से पूरा करवा दूंगा।'

धनलक्ष्मी ने बुझे स्वर में कहा, 'आपके आदेश को मैं नहीं टाल सकती। यदि प्रारब्ध में इस मंदिर को पूरा होना है तो यह कभी अधूरा नहीं रहेगा। मैं भी सोचती हूं कि देश है तो सब हैं। मंदिर भी तो देश में ही होते हैं।'

'सचमुच तुम महान हो देवी!' भामाशाह ने जैसे अपनी कृतज्ञता प्रकट की, 'तुम्हारे जैसी नारियों के होते कोई देश कभी भी पराधीन नहीं रह सकता। मंदिर के पेटे बहुत धन पड़ा है। मैं उसे लेकर राणा जी के पास जाता हूं।'

जब भामाशाह राणा प्रताप के पास पहुंचे तो राणा जी की नजर पहले भामाशाह पर और फिर ऊंटों पर पड़ी। उन्होंने तुरंत पूछा 'इन ऊंटों पर क्या है शाह जी!'

'....धन।'

'इतना धन कहां से लाए?'

'राणा जी!' आपका मैं दास हूं। भामाशाह ने विनम्रता से कहा, इन ऊंटों पर जो धन है, वह मंदिर निर्माण के लिए रखा था, वही है यह।'

'क्या? आपका देव मंदिर अधूरा रहेगा?' चौंक पड़े राणा जी, नहीं-नहीं शाह जी, यह तो अनुचित है।'

'नहीं राणा जी! यह अनुचित नहीं है। यह उचित है। मंदिर का निर्माण तो हम केवल रुकवा रहे हैं। फिर से शुरू करवा देंगे। हम कितने कार्य शुरू करते हैं, रुकवाते हैं, और फिर शुरू करते हैं। इस धन को आपके चरणों में अर्पित करने के लिए मैंने अपने परिवार से सहमति ले ली है। आप इस धन से फिर से स्वतंत्रता की लड़ाई शुरू कीजिए।'

फिर परिस्थितियां पूरी तरह से नहीं सुधरी। भामाशाह का 1600 ई. में देहांत हो गया और भामाशाह और उनकी पत्नी अपने अधूरे सपने को पूरा नहीं कर सके और मंदिर अधूरा ही रह गया।

अधूरा मंदिर ही भामाशाह के त्याग, देशभक्ति और कर्तव्यपालन का प्रतीक हो गया।

❖

हर गांव में विद्यापीठ

मेरी कल्पना है कि हर गांव में संपूर्ण तालीम होनी चाहिए। जिसे हम यूनिवर्सिटी कहते हैं, विद्यापीठ कहते हैं, वह हर गांव में होना चाहिए। क्योंकि हर एक ग्राम, चाहे वह कितना भी छोटा हो, सारी दुनिया का प्रतिनिधि है और कुल दुनिया थोड़े में वहां पर मौजूद है। इस वास्ते पूरी तालीम वहां मिलनी चाहिए। प्रत्येक गांव का सृष्टि के साथ प्रत्यक्ष संबंध है, इस वास्ते मनुष्य को सृष्टि-विज्ञान सब तरह से वहां हासिल हो सकता है। असंख्य प्राणी, पक्षी, पशु इत्यादि के साथ संपर्क रहता है। इस वास्ते मानव के लिए जो पूरक ज्ञान चाहिए, प्राणीशास्त्र का, वह वहां मिल सकता है। वहां पर खेती होगी, वहां पर कपड़ा बनेगा, वहां पर रास्ते बनेंगे, वहां पर ग्रामोद्योग होंगे। इस वास्ते उन सब चीजों के जरिए और उन चीजों के लिए इस ज्ञान की जरूरत है। वह सारा ज्ञान ग्राम में प्राप्त होना चाहिए और हो सकता है। ग्राम में प्राचीनकाल से मानव-समाज चला आया है, अतः वहां इतिहास भी मौजूद है और समाज-ज्ञान भी मौजूद है। ग्राम में एक-दूसरे से अधिक निकट संपर्क आता है। शहर में जितना आता है, उससे ज्यादा। इस वास्ते वहां नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र बहुत विकसित हो सकता है। आत्मा की व्यापकता, एक-दूसरे के साथ सहयोग करने की वृत्ति, सत्यनिष्ठा इत्यादि जो नीति-धर्म हैं, वे ग्रांम में अच्छी तरह से प्रकट हैं। ग्रह, नक्षत्र, तारे इत्यादि आकाश में दीखते हैं, शायद शहरों में उनका प्रकाश अच्छी तरह पहुंचता न होगा। इसलिए गांवों में काव्य-साहित्य का जितना विकास हो सकता है, शायद उतना शहरों में होना मुश्किल है।

—विनोबा

इनाम पृष्ठ 43 का शेष

'सुनी पगले की बातें। इसका मैं बुरा मानूंगी।'

बालक ने प्रमिला को पास बिठा लिया। उसके गले में हाथ ड़ालकर वह बोला—'देखो टालना मत! मेरा इनाम यह है कि इस घर में तुम अब से कभी मत आना। तुम मुझे प्यार करती हो न!'

पिता बोले—'यह क्या बकवास है मुन्ने?'

मुन्ने ने कहा—'आप भी तो इनाम देंगे, यही दीजिए कि इनसे कभी मत मिलिए।'

पिता कुछ समझें कि छटपटाती हुई मां आई। बालक को गोद में उठाकर बोली—'हाथ क्यों बंद किये हो जी? खोलकर आगे क्यों नहीं कर देते, दस का नोट। मुट्ठी में नाहक मुड़ रहा होगा। ...और प्रमिला, बड़े दिनों में आई हो। बैठो, तुम भी चखो न यह खुशी की मिठाई!'

बालक ने सबको देखा मानो मैल धुल गया, क्षण को ही सही, पर क्षण क्या सत्य नहीं होता!

मेरे आचार्य

मेरे आचार्य आत्मगवेषक हैं। उनका जीवन जन-जन के आत्महित में लगा हुआ है। उनका एकमात्र उद्देश्य आत्म-साधना है—इसलिए वे 'निज्जरट्ठिए' हैं।

वे सेवाभावी हैं—अनेक कष्टों को झेल, पाद-विहार कर लाखों में चैतन्य फूंकते हैं, सोए हुओं को जगाते हैं। यह फलाशंसा के बिना होता है, इसलिए वे 'निरासए' हैं।

वे अल्पभाषी हैं—वे अधिकार की भाषा में नहीं बोलते। वे विवेक-जागरण की बात कहते हैं—इसलिए वे 'अप्पभासी' हैं।

वे मित-भोजी हैं—जीभ के लिए नहीं खाते। यात्रा-निर्वाह के लिए खाते हैं। 'संचित-कर्म खपाना ही है, इस शरीर-धारण का अर्थ'—इस दृष्टि से खाते हैं—इसलिए वे 'मियासण' हैं।

वे अल्पोपधि हैं—अल्प किंतु महार्घ्य के सामने उन्होंने महान् किंतु अलपार्घ्य का आदर्श बड़ा किया है—इसलिए वे 'अप्पोवहिउवगरण' हैं।

वे अभय हैं—कर्तव्य या औचित्य सहज स्फुरित हो, शासन के भय से नहीं। वे डराकर कुछ कराना नहीं चाहते, विवेक-जागरण चाहते हैं—इसलिए वे 'नो वि य भावियप्पा' हैं।

वे पवित्र हैं—जागरूक वृत्ति से बरतते हैं। अल्प-निद्रा, अधिक स्वाध्याय, चिंतन-मनन में समय जाता है। विरक्ति के विचार आसक्ति को दूर किए हुए हैं। वृत्तियों की शांति सहज जता देती हैं—वे 'निस्संग' हैं।

वे जितेंद्रिय हैं—इंद्रियों में दुर्जेयतम रसना है। स्वाद पर पूरा नियंत्रण है। कम वस्तु, कम बार और कम मात्रा में खाना प्रकृति-घटित घटना-सा बन गया है। दूसरी इंद्रियों का संयम और मन का अवधान अवस्था और अधिकार का साथ नहीं दे रहा है। अतएव वे 'जिइंदिय' हैं।

वे कष्ट-सहिष्णु हैं—विरोध को सदा विनोद मानकर चलते हैं। अनुकूल को सहा है, प्रतिकूल को भी सहा है। दूर को सहा है, नजदीक को भी सहा है। बहुत सहा है। सीमा से परे भी सहा है, बड़े धैर्य से सहा है। गर्व के साथ कहा जा सकता है—हमारे आचार्य 'परिसह-रिउदंता' हैं।

वे आनंद-घन हैं—जिसकी कर्तव्य-निष्ठा जग गई—फल की आशा से जो मुक्त है, कम बोलता है, कम खाता है, बाहरी वस्तुओं से बंधता नहीं, न डरता है, न डराता है, विकार जिसे नहीं छूते, विषय पर जिसका नियंत्रण है, कष्टों से जो घबराता नहीं, उसमें क्या बचेगा? आनंद-आनंद-आनंद। इसलिए हमारे आचार्य—'आणंदघण' हैं।

—**'अनुभव चिंतन मनन'** से

With best compliments from :

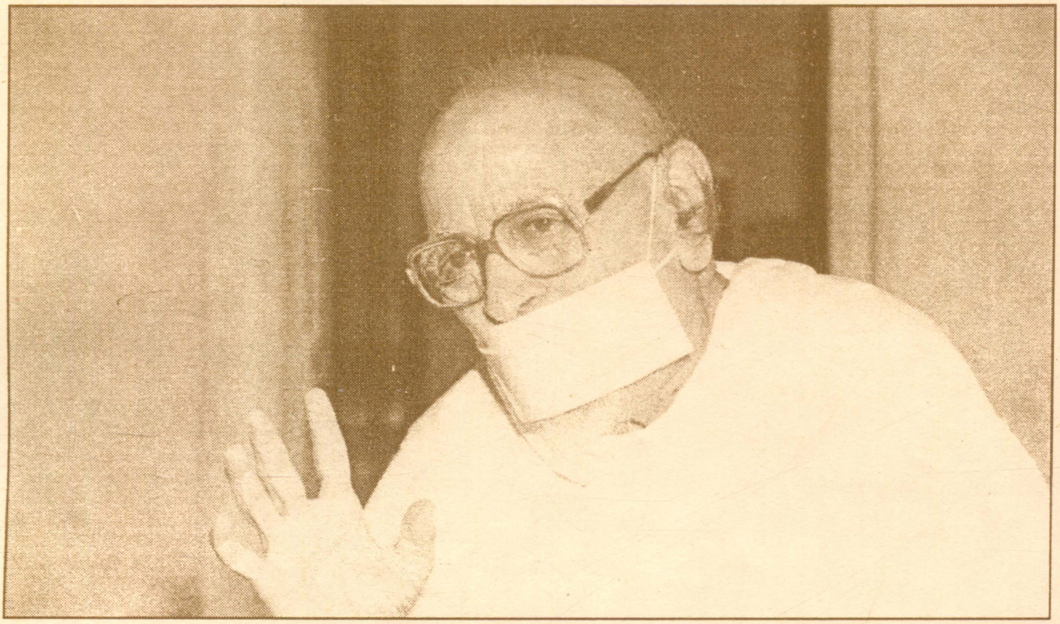

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

PEMCHAND CHOPRA CHARITABLE TRUST
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

JHAMKUDEVI CHOPRA CHARITABLE TRUST
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

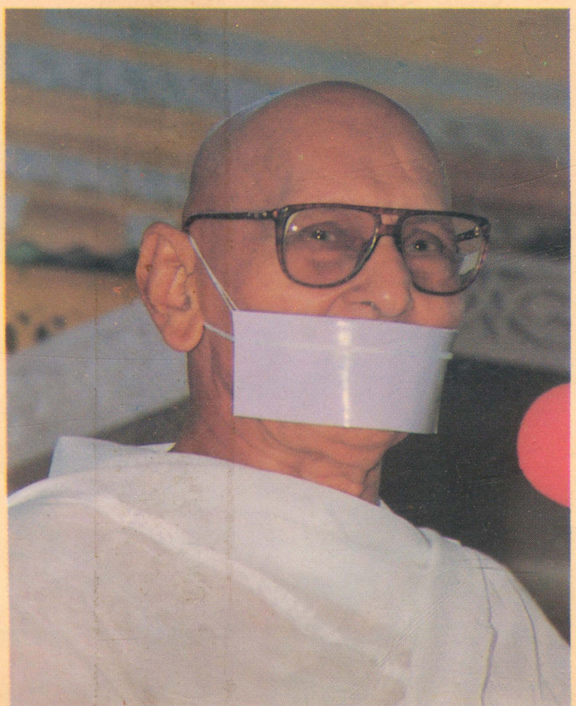

Pride in your choice

SUMAN®
SAREES

CHOPRA

Mfg. Suman Silk Mills Pvt. Ltd., SURAT

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।